

वर्ष 11, अंक 2,

जुलाई-सितम्बर 1999 ई०



परमपूज्य आचार्यश्री समन्तभद्र जी मुनिराज से
बाहुबलि-कुम्भोज में सूक्ष्म आध्यात्मिक चर्चा में तल्लीन
आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज ।
(यह चित्र सन् 1980 ई० का है)

आवरण पृष्ठ के बारे में

पूज्य आचार्यश्री समन्तभद्र जी एवं आचार्यश्री विद्यानन्द जी

महाराष्ट्र प्रान्त के एक छोटे-से गाँव में जन्मे तेजस्वी बालक देवचन्द ने श्री अर्जुनलाल सेठी जैसे क्रान्तिकारियों के साथ स्नातक शिक्षा प्राप्त करने के बाद आत्मसाधना के पवित्र मार्ग का अनुसरण किया और पूज्य आचार्य शांतिसागर जी से शुल्लक दीक्षा ग्रहण की। श्रामण्य की कठोर साधना के लिए अपने आपको तैयार कर आचार्यश्री वर्धमानसागर जी (आचार्य शांतिसागर जी के बड़े भाई) से मुनिदीक्षा अंगीकार की और बीसवीं शताब्दी के महान् संत 'समन्तभद्र मुनिराज' के रूप में देश और समाज को एक महान् शिक्षाविद्, मनीषी साधक, निस्पृह तपस्वी के अद्वितीय व्यक्तित्व की प्राप्ति हुई।

आपके दूरदर्शी चिंतन ने दक्षिण भारत में समाज के शैक्षणिक स्तर में संस्कार-समन्वित सुधार के लिए गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का सूत्रपात हुआ तथा आपश्री के पावन संस्पर्श से प्रवर्तित 18 गुरुकुल महाराष्ट्र एवं कर्नाटक प्रांतों में आज भी चल रहे हैं; जिनमें हजारों विद्यार्थी ज्ञानार्जन कर रहे हैं। आपने गुरुकुल प्रणाली के सूक्ष्म अध्ययन के लिए गुरुकुल कांगड़ी (हरिद्वार) जाकर गुरुकुल के वातावरण एवं प्रबंध व्यवस्था का साक्षात् अवलोकन किया।

आप लोकैषणा से अत्यन्त दूर थे, यहाँ तक कि आपने यावज्जीवन 'आचार्य' पदवी तक स्वीकार नहीं की, वरन् आपके स्वर्गारोहण के पश्चात् चतुर्विध संघ एवं समाज ने आपको यह पद संबोधित किया। यही नहीं, आपने अपनी समाधि से पूर्व स्पष्ट निर्देश दे दिया था कि देहत्याग के बाद शरीर की कोई शोभायात्रा या जलूस नहीं निकलेगा, दहन-क्रिया में चंदन की लकड़ियाँ नहीं डालीं जायेंगी तथा आपके नाम से कोई संस्था नहीं बनायी जायेगी।

आपके करकमलों से आर्यनंदि जी मुनिराज एवं महाबल जी मुनिराज जैसे संतों की दीक्षाविधि हुई, तो ब्र० तात्या जी चँवरे, ब्र० माणिकचंद जी भिंसीकर, ब्र० गजाबहिन जैसे दशाधिक ब्रह्मचारी विद्वानों की समर्पित पीढ़ी का निर्माण हुआ। आप स्वयं निरन्तर कोशग्रन्थों के साथ आगमग्रन्थों के स्वाध्याय में लीन रहते थे तथा आपके आशीर्वाद से स्थापित अनेकान्त शोध संस्थान, बाहुबलि कुंभोज के द्वारा डॉ० ए०एन० उपाध्ये, डॉ० विलास संगवे, आदि अनेक वरिष्ठ मनीषियों के द्वारा आगमग्रन्थों के प्रामाणिक संस्करण एवं महत्त्वपूर्ण कृतियों का निर्माण होकर उनका प्रकाशन हुआ। आपश्री के ही आशीर्वाद से तीर्थों की सुरक्षा के लिए आज से 2 वर्ष पूर्व एक करोड़ रुपयों की राशि का ध्रुवफंड बना। आपश्री का 97 वर्ष की आयु में समाधिमरण हुआ।

आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज से आचार्यप्रवर समन्तभद्र जी का विशेष वात्सल्य था। 1988 ई० में आ० समन्तभद्र जी के पास रहकर आचार्य विद्यानन्द जी ने सामायिक की प्रायोगिक विधि, शास्त्रों से नोट्स लेने की कला एवं ध्यानसाधना की सूक्ष्मविधियाँ सीखीं। आचार्य विद्यानन्द जी की प्रेरक सन्निधि में सन् 1983 ई० में 'समन्तभद्र दिव्यावदान समारोह' का भव्य आयोजन हुआ। इन दो महान् संतों का यह पावन मिलन 'मणिकांचन योग' के समान प्रेरणास्पद रहा। समाज को इन दो महान् विभूतियों से प्रेरणा एवं दृष्टि मिले, इस भावना से यह दुर्लभ चित्र यहाँ प्रकाशित है।

—सम्पादक



॥ जयदु सुद-देवदा ॥

प्राकृत-विद्या
पागद-विज्जा

PRAKRIT-VIDYA
Pagad-Vijja

शौरसेनी, प्राकृत एवं सांस्कृतिक मूल्यों की त्रैमासिकी शोध-पत्रिका
The quarterly Research Journal of Shaurseni, Prakrit & Cultural Values

वीरसंवत् 2525 जुलाई-सितम्बर 1999 ई० वर्ष 11 अंक 2
Veersamvat 2525 July-September 1999 Year 11 Issue 2

आचार्य कुन्दकुन्द समाधि संवत् 2012

मानद प्रधान सम्पादक

प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन

निदेशक, कुन्दकुन्द भारती जैन शोध संस्थान

Hon. Chief Editor

PROF. (DR.) RAJA RAM JAIN

Director, K.K.B. Jain Research Institute

मानद सम्पादक Hon. Editor

डॉ० सुदीप जैन

एम.ए. (प्राकृत), पी-एच.डी.

DR. SUDEEP JAIN

M.A. (Prakrit), Ph.D.

प्रकाशक

श्री सुरेश चन्द्र जैन

मंत्री

श्री कुन्दकुन्द भारती ट्रस्ट

Publisher

SURESH CHANDRA JAIN

Secretary

Shri Kundkund Bharti Trust

★ वार्षिक सदस्यता शुल्क - पचास रुपये (भारत) 6.0 \$ (डालर) भारत के बाहर

★ एक अंक - पन्द्रह रुपये (भारत) 1.5 \$ (डालर) भारत के बाहर

डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री
प्रो० (डॉ०) प्रेमसुमन जैन

डॉ० उदयचन्द्र जैन
पं० जयकुमार जैन उपाध्ये,
एम०ए०(प्राकृत)

पं० महावीर शास्त्री

प्रबन्ध सम्पादक

डॉ० वीरसागर जैन

श्री कुन्दकुन्द भारती (प्राकृत भवन)
18-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया,
नई दिल्ली-110067
फोन (011) 6564510
फैक्स (011) 6856286

Kundkund Bharti (Prakrit Bhawan)
18-B, Spl. Institutional Area
New Delhi-110067
Phone (91-11) 6564510
Fax (91-11) 6856286

“नामाख्यातोपसर्गेषु, निपातेषु च संस्कृता ।

प्राकृती शौरसेनी च, भाषा यत्र त्रयी स्मृता ॥”

—(आचार्य रविषेण, 'पद्मपुराण', 24/11)

अर्थः—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपातों में संस्कृत, प्राकृत और शौरसेनी -
ये तीन भाषायें थी ।

(i) प्रकृतिः शौरसेनी ॥ 10/2 ॥

अस्याः पैशाच्याः प्रकृतिः शौरसेनी । स्थितायां शौरसेन्यां पैशाची-लक्षणं
प्रवर्तयितव्यम् ।

(ii) प्रकृतिः शौरसेनी ॥ 11/2 ॥

अस्याः मागध्याः प्रकृतिः शौरसेनीति वेदितव्यम् ।

(वररुचिकृत 'प्राकृतप्रकाश' से)

(i) शेषं शौरसेनीवत् ॥ 8/4/302 ॥

मागध्यां यदुक्तं, ततोऽन्यच्छौरसेनीवद् द्रष्टव्यम् ।

(ii) शेषं शौरसेनीवत् ॥ 8/4/323 ॥

पैशाच्यां यदुक्तं, ततोऽन्यच्छेषं पैशाच्यां शौरसेनीवद् भवति ।

(iii) शौरसेनीवत् ॥ 8/4/446 ॥

अपभ्रंशे प्रायः शौरसेनीवत् कार्यं भवति ।

अपभ्रंश-भाषायां प्रायः शौरसेनी-भाषा-तुल्यं कार्यं जायते; शौरसेनी-भाषायाः ये
नियमाः सन्ति, तेषां प्रवृत्तिरपभ्रंशभाषायामपि जायते ।

(हिमचन्द्रकृत 'प्राकृतव्याकरण' से)

अनुक्रम

क्र.	शीर्षक	लेखक	पृष्ठ सं०
01.	सम्पादकीय : विद्वत्सेवा की रजत जयंती :	डॉ० सुदीप जैन	5
02.	कायोत्सर्ग : परमात्मा बनने का विधान	आचार्य विद्यानन्द मुनि	9
03.	वस्त्रावेष्टित साधु : कृष्णा मेनन		13
04.	जैन-संस्कृति एवं तीर्थकर-परम्परा	बिशम्भरनाथ पांडे	15
05.	'प्राचीन भारत' पुस्तक में.....	राजमल जैन	19
06.	स्वाध्याय	आचार्य विद्यानन्द मुनि	31
07.	आयरिय-सिरि-विज्जाणंद-महामुणि-धुवं (कविता)	डॉ० एन० सुरेश कुमार	38
08.	तिसट्टि-महापुराण-पुरिस-आयार-गुणालंकारु	प्रो० राजाराम जैन	39
09.	अपभ्रंश की सरस सशक्त जैनकृति 'चूनडी रासक'	कुन्दन लाल जैन	49
10.	अपभ्रंश के आद्य महाकवि स्वयंभू एवं उनके नारीपात्र	डॉ० विद्यावती जैन	57
11.	अहिंसा : एक विश्वधर्म	श्रीमती रंजना जैन	67
12.	डॉ० लुडविग अल्सडोर्फ	डॉ० अभय प्रकाश जैन	69
13.	आदिब्रह्मा तीर्थकर ऋषभदेव	डॉ० सुदीप जैन	71
14.	हमारी बद्दीनाथ-यात्रा	डॉ० प्रेमचंद रांवका	74
15.	जिनधर्म-प्रभावक आचार्यश्री विद्यानन्द जी	डॉ० रमेश चंद जैन	83
16.	बिहार के कुछ पवित्र जैनतीर्थ	रूपकमल चौधरी	86
17.	पुस्तक-समीक्षा		89
18.	अभिमत		92
19.	समाचार दर्शन		94
20.	इस अंक के लेखक-लेखिकायें		106



“अप्या दीप्तेव जलदि”



—(प्रबोध चन्द्रोदय, 3/45)

अर्थ:—आत्मा अपनी ज्ञानज्योति से दीपक की भाँति प्रकाशित होता है।



“दीवाउ दीवि पज्जलइ बत्ति”



—(महापुराण, 2/20)

अर्थ:—दीपक से ही अन्य दीपक की बत्ती प्रज्वलित होती है।



भगवान् महावीर के पावन निर्वाण दिवस के शुभ अवसर पर प्रकाशपर्व दीपावली आपके जीवन में निर्मलज्ञान का मंगलमय प्रकाश फैलाये — इस मंगल कामना के साथ समस्त धर्मानुरागी पाठकों को कोटिशः शुभकामनायें।



—सम्पादक



‘वीर निर्वाण दिवस’ कार्तिक कृष्ण अमावस्या को है
तथा



वीर निर्वाण संवत् 2526 कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा से प्रारम्भ होगा।



विद्वत्सेवा की रजत-जयन्ती

—डॉ० सुदीप जैन

प्राचीनकाल में विद्वानों के समागम शिक्षाकेन्द्रों के अतिरिक्त मात्र संतों की संगति में एवं राजधानियों में ही हुआ करते थे। वर्तमान भारत गणतन्त्र की राजधानी नई दिल्ली में विद्वानों की ऐसी कोई समागम-संस्था नहीं थी, जो मात्र विद्वत्सेवा एवं ज्ञानप्रसार के लिए ही समर्पित हो। विद्वानों की भावना थी कि यदि ऐसी संस्था में संतों के सान्निध्य का भी राजधानी में सुलभ हो सके, तो प्रतिभा एवं साधना का सुमेल चमत्कारी निष्कर्ष प्रदान कर सकता है।

सुसंयोगवश शासननायक भगवान् महावीर के 2500वें निर्वाण-महोत्सव वर्ष (1974ई०) के सुअवसर पर जब पूज्य मुनिश्री विद्यानन्द जी दिल्ली में विराजमान थे, तो दिल्ली समाज के प्रमुख पंच धर्मानुरागी श्री परसादीलाल जी पाटनी ने पूज्य मुनिश्री से विनती की कि “पूज्यपाद ! आपश्री के मन में विद्वानों के प्रति जो अपार वात्सल्य है, उसे मूर्तरूप प्रदान करने की कृपा करें।” पूज्य मुनिश्री ने पूछा कि “पाटनी जी ! आप क्या कहना चाहते हैं? कृपया स्पष्ट करें।” पाटनी जी बोले कि “मुनिवर ! राजधानी दिल्ली में विद्वानों के लिए समर्पित कोई संस्था नहीं है, आप कृपा कर समाज को ऐसी संस्था बनाने की प्रेरणा दें। आपश्री के मंगल आशीर्वाद से इस शुभ अवसर पर यह कार्य आसानी से सम्पन्न हो सकता है।” पूज्य मुनिश्री ने तब ‘विचार करने’ का आश्वासन देकर उन्हें संतुष्ट किया।

इसके बाद समाज के सर्वमान्य नेता धर्मानुरागी श्री साहू शान्तिप्रसाद जी जैन, बाबू घनश्याम दास जी मुल्लानी, पं० बाबूलाल जी जमादार, पं० वर्धमान पार्ष्वनाथ शास्त्री एवं पं० बलभद्र जी आदि से आचार्यश्री ने इस विषय में व्यावहारिक पक्षों पर व्यापक विचार विमर्श किया। इस प्रक्रिया में लगभग 2-3 माह का समय व्यतीत हो गया।

अंततः वर्ष 1974 ई० के ‘दशलक्षण महापर्व’ उत्तम त्यागधर्म के दिन भाद्रपद शुक्ल द्वादशी के दिन पूज्य आचार्यश्री ने अपने मंगल आशीर्वाद के द्वारा संस्था का नामकरण ‘कुन्दकुन्द भारती’ किया एवं समाज के धर्मप्राण नर-नारियों ने इसकी स्थापना के निमित्त मुक्तहस्त से द्रव्य दान में दिया। माताओं-बहिनों ने तो अपने स्वर्णाभूषण भी विपुल मात्रा में समर्पित किये। समाज के प्रमुख पन्द्रह गणमान्य महानुभावों को इस संस्थान का न्यासी (ट्रस्टी) नियुक्त किया गया एवं इसे न्यास (ट्रस्ट) के रूप में विधिवत् रजिस्टर्ड भी करा दिया गया। इसके संविधान के अनुसार प्रत्येक तीसरे वर्ष में इसके विधिवत्

चुनाव होते हैं तथा समय-समय पर मीटिंगों में ट्रस्टीगण संस्था की गतिविधियों की समीक्षा करते हुए इसके कार्यों, योजनाओं को स्वीकृति देते हैं।

इस संस्था को भूमि राजधानी के शैक्षणिक क्षेत्र में अपेक्षित थी, तो तत्कालीन प्रधानमंत्री भद्रपरिणामी धर्मानुरागिणी श्रीमती इंदिरा गाँधी जी ने इसे भूमि प्रदान करायी, जिस पर इस संस्था का परिसर एवं भवन आज विद्यमान है। इस संस्था के तत्कालीन अध्यक्ष धर्मानुरागी स्व० श्री कश्मीरचंद जी गोधा ने स्वयं खड़े रहकर निरीक्षण करते हुए उत्तम सामग्री से तीन वर्ष में इसका निर्माण कार्य कराया। संस्था के स्थायित्व के लिए अपेक्षित आर्थिक संसाधनों की अनवरतता भी अपेक्षित थी, तो आदर्णीय धर्मानुरागी समाजसेवी साहू श्री अशोक जैन जी की अध्यक्षता में इस संस्था की प्रारंभिक अनिवार्य आवश्यकताओं के अनुरूप धुवफंड बनाया गया।

साथ ही विद्वद्वर्य स्व० पं० बलभद्र जी के निर्देशन में महत्त्वपूर्ण प्रकाशनों की परम्परा प्रवर्तित हुई, जिसमें प्रारंभिक वर्षों में समयसार, नियमसार, द्रव्यसंग्रह जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के उपयोगी संस्करण प्रकाशित हुये। जैन-परंपरा की मूलभाषा तथा भारतवर्ष की प्राचीनतम जनभाषा शौरसेनी प्राकृत के संरक्षण, संवर्धन एवं प्रचार-प्रसार के निमित्त 'प्राकृतविद्या' नामक त्रैमासिकी शोध-पत्रिका का प्रकाशन-कार्य भी इस संस्था के द्वारा किया जा रहा है। इसका शुभारंभ आचार्य कुन्दकुन्द के द्विसहस्राब्दी वर्ष के शुभ अवसर पर वरिष्ठ विद्वान् प्रो० प्रेमसुमन जैन, उदयपुर (राज०) के संपादकत्व में हुआ था, फिर दिल्ली से इसे पं० बलभद्र जी का संपादकत्व प्राप्त हुआ। उनके उपरान्त यह डॉ० सुदीप जैन के संपादकत्व में एक सुयोग्य संपादक-मंडल के निर्देशन में निरन्तर प्रगतिशील है।

इसी संस्था के द्वारा शौरसेनी प्राकृतभाषा के विकास की दृष्टि से प्रथमतः श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली-16 में 'आचार्य कुन्दकुन्द-स्मृति व्याख्यानमाला' की स्थापना की गयी, जिसके अन्तर्गत प्रतिवर्ष किसी एक वरिष्ठ विद्वान् के शौरसेनी प्राकृतभाषा एवं साहित्य के विविध पक्षों में से किन्हीं दो बिन्दुओं पर सारगर्भित एवं शोधपूर्ण व्याख्यान गरिमापूर्वक आयोजित किये जाते हैं। विश्वविद्यालय के नियमानुसार ही आमंत्रित विद्वान् का सम्मान भी किया जाता है। उल्लेखनीय बात यह है कि इस आयोजन में दिल्ली के स्थानीय विद्वानों के अतिरिक्त विद्यापीठ से सभी विभागों के वरिष्ठ विद्वान्, शोधछात्र, छात्र-छात्रायें-एवं जिज्ञासुगण सम्मिलित होते हैं।

समाजसेवा एवं साहित्याराधना में अपना जीवन समर्पित करनेवाले विद्वानों को कृतज्ञभाव से सम्मानित कर उनकी यशोगाथा से समाज को परिचित कराने की दृष्टि से इस संस्था के तत्त्वावधान में दो प्रमुख पुरस्कार प्रतिवर्ष दिये जाते हैं। प्राकृतभाषा एवं साहित्य के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य करनेवाले विद्वान् को 'आचार्य कुन्दकुन्द पुरस्कार' तथा संस्कृतभाषा एवं साहित्य के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य करनेवाले विद्वान् को 'आचार्य

उमास्वामी पुरस्कार' दिये जाते हैं। इनमें सम्मान्य विद्वान् को एक-एक लाख रूपयों की मानधन-राशि के साथ प्रशस्तिपत्र, स्मृतिचिह्न, शॉल, श्रीफल आदि भव्य समारोह में गरिमापूर्वक समर्पित किये जाते हैं।

प्राकृतभाषा एवं साहित्य तथा जैनदर्शन के क्षेत्र में उच्च अध्ययन एवं शोधकार्य करनेवाले मेधावी एवं जरूरतमंद छात्रों को इस संस्थान की ओर से प्रतिवर्ष छात्रवृत्तियाँ भी दी जाती हैं। इसमें जैन एवं जैनेतर सभी वर्गों के छात्र-छात्राओं को समानरूप से योग्यता के आधार पर छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं; ताकि उन छात्र-छात्राओं को इन विद्याओं के अध्ययन में प्रोत्साहन मिले और उनका भविष्य अच्छा बन सके।

इसके अतिरिक्त समाज में तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से जैनतत्त्वज्ञान के अच्छे ज्ञाता विद्वान् भी इस संस्था से जुड़कर कार्य कर रहे हैं। संस्थान के निदेशक प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन, जो कि अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् के अध्यक्ष भी हैं, विभिन्न महत्त्वपूर्ण अवसरों पर समाज को अपने वैदुष्य से निस्पृहभाव से लाभान्वित कराते रहते हैं। संस्थान के उपनिदेशक डॉ० सुदीप जैन भी राजेन्द्र नगर आदि क्षेत्रों में कई वर्षों से शास्त्र-स्वाध्याय एवं तत्त्वचर्चा के माध्यम से धर्म-प्रभावना करते हुए महती समाजसेवा कर रहे हैं। जैन विधि-विधान, वास्तुशास्त्र एवं जैन ज्योतिष की दृष्टि से इस संस्था में समाज की सेवा करने के लिए एक स्वतंत्र विभाग कार्यरत है। इन विद्याओं के अच्छे विद्वान् डॉ० जयकुमार उपाध्ये वर्षों से समाज की महती आवश्यकता की पूर्ति कर रहे हैं। संस्था से जुड़े एक अन्य विद्वान् डॉ० वीरसागर जैन भी विगत कुछ दिनों से ग्रीनपार्क के दिगम्बर जैन मंदिर में प्रतिदिन प्रातःकाल शास्त्र-स्वाध्याय कर धर्मप्रभावना कर रहे हैं।

समाज में यदि किसी भी व्यक्ति को सल्लेखना, संबोधन आदि की स्थिति होती है, तो संस्था बिना किसी अपेक्षा के यथासंभव विद्वानों का सान्निध्य उपलब्ध कराती है, ताकि लोगों का धर्म के प्रति आकर्षण बढ़े और पारस्परिक सौहार्द भी बढ़े। सत्साहित्य का प्रकाशन करके तथा उसे यथासंभव समाजसेवा की भावना से उपयुक्त सुपात्रों तक पहुँचाकर भी इस संस्था ने अत्यधिक उल्लेखनीय कार्य किये हैं। अब तक पच्चीस से अधिक ग्रंथों/पुस्तकों की लाखों प्रतियाँ संस्था द्वारा प्रसारित की जा चुकी हैं।

संस्था में संतों का सान्निध्य भी प्रायः उपलब्ध रहता है, जिससे यहाँ दर्शनार्थियों एवं धर्मानुरागियों का सम्पर्क निरन्तर बना रहता है। साथ ही वातावरण की पवित्रता के साथ-साथ निरन्तर ज्ञान एवं तप की सुगंध व्याप्त रहती है।

हमारे आचार्यों की प्रियभाषा, भारत की मूलजनभाषा एवं आगमग्रंथों की माध्यमभाषा 'प्राकृत' की प्रभावना की दृष्टि से इस संस्था के द्वारा श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय), नई दिल्ली-110016 में तीन वर्ष पूर्व प्राकृतभाषा

के अंशकालीन 'प्रमाणपत्रीय' एवं 'डिप्लोमा' पाठ्यक्रमों की स्थापना में महत्त्वपूर्ण योगदान किया था, जिसके फलस्वरूप विगत तीन वर्षों में शताधिक जिज्ञासुओं ने वहाँ से उक्त पाठ्यक्रमों का लाभ लिया है तथा नियमितरूप से इनमें सम्मिलित होकर उच्च अंकों से ये परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं हैं। इन्हीं की सफलता से प्रेरित होकर इस विद्यापीठ ने केन्द्र सरकार को पूर्ण प्रगति-विवरण दिखाते हुए स्वतंत्र प्राकृतभाषा विभाग की स्थापना गतवर्ष करायी है। इसमें सत्र 1998-99 से विधिवत् अध्ययन-अध्यापनकार्य प्रारंभ हो गया है तथा दो विद्वानों की विधिवत् नियुक्ति भी इसमें हो चुकी है। ये सभी पाठ्यक्रम डॉ० सुदीप जैन के संयोजकत्व में प्रवर्तित एवं संचालित हैं। किंतु इन सबके मूल में पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज का मंगल आशीर्वाद तथा विद्यापीठ के संस्थापक कुलपति डॉ० मण्डन मिश्र जी एवं वर्तमान कुलपति प्रो० वाचस्पति उपाध्याय जी का अपार श्रम, निष्ठा एवं सहयोग ही प्रमुख तत्त्व है; अन्यथा प्राकृतभाषा के प्रचार-प्रसार में संजीवनी का कार्य करने वाले ये कार्यक्रम प्रवर्तित हो सकना ही असंभव थे। इसके लिए संस्था उक्त कुलपतिद्वय (डॉ० मण्डन मिश्र जी एवं प्रो० वाचस्पति उपाध्याय जी) का उपकार कभी नहीं भूल सकती है।

इस संस्था का मूलमंत्र है—“न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति।” जो लोग “कार्यान्ते तृणं मन्यते” (अर्थात् काम निकल जाने पर व्यक्ति की पूर्णतः उपेक्षा कर दी जाती है) की अनीति में आस्था रखते हैं, यह संस्था उनकी छाया तक से दूर रहकर कृतज्ञता की भावना का सर्वोपरि मानती है। इन दोनों महानुभावों (डॉ० मण्डन मिश्र जी एवं प्रो० वाचस्पति उपाध्याय जी) ने प्राकृतभाषा के प्रचार-प्रसार में अपार सहयोग कर हमारे पूर्वज विद्वानों, कवियों, आचार्यों के अपार प्राकृत-साहित्य को एवं उसमें निहित ज्ञान-विज्ञान को अपेक्षित बने रहने से बचाया है तथा बीसवीं शताब्दी में पुनर्जीवित करने का महान् कार्य किया है।

अपने संस्थापकों से लेकर समस्त समाजसेवियों, विद्वानों, सहयोगियों आदि का यह संस्था कृतज्ञभाव से उपकार मानती है तथा संतों, मनीषियों एवं समाज के कर्णधारों से मार्गदर्शन करते हुए निरंतर समाजसेवा एवं धर्मप्रभावना के साथ-साथ राष्ट्र के शैक्षिक विकास में अपने योगदान के प्रति पूर्णतः सजग रहकर समर्पितभाव से विगत पच्चीस वर्षों से कार्यरत है। तथा इन्हीं उपलब्धियों से प्रेरणा प्राप्त कर आगे और भी उत्साह, लगन एवं समर्पण की भावना से राष्ट्र एवं समाज की सेवा में समर्पित रहने का दृढ़ संकल्प लेकर कर्तव्यपथ पर अग्रसर है।



‘परचिन्ताऽध्यासाध्यासा’

“जो दूसरों को अपने धर्म में दीक्षित कर दूसरों की आत्माओं का उद्धार करते फिरते हैं, वे प्रायः अपनी आत्मा को भूल जाते हैं।” —विवेकानन्द

कायोत्सर्ग : परमात्मा बनने का विधान

—आचार्य विद्यानन्द मुनि

प्रदर्शन की कामना से रहित सरल, निश्चल साधना को वर्तमानयुगीन चिन्तन के अनुरूप वैज्ञानिक धरातल की कसौटी पर परखकर उसकी यथार्थ एवं आगमानुकूल व्यावहारिक परिणति अपने जीवन में अपनाने एवं उस अनुभूति-प्रमाणित सत्य को देश एवं समाज के बीच दोटूक रूप में प्रस्तुत करने की पूज्य आचार्यश्री की विशेषता सर्वविदित है। रूढ़ि से किये जाने वाली क्रियाओं की खानापूति को वास्तविकता एवं व्यावहारिक उपयोगिता के आलोक में काँच व मणि की भाँति भेदज्ञान-सहित प्रस्तुति उनके चिंतन का मौलिक गुण है। 'कायोत्सर्ग' जैसी आवश्यक विधि के बारे में उनकी लेखनी से प्रसूत यह दिशाबोधक आलेख समस्त श्रमणों व श्रावकों को पठनीय एवं मननीय है।

—सम्पादक

पर-पदार्थों की आसक्ति के प्रबल बन्धन में बँधा हुआ यह जीव पर्याप्त शास्त्रज्ञान कर लेने पर भी संसारचक्र में मुक्ति का मार्ग प्राप्त नहीं कर पाता है। तथा परपदार्थों में आसक्ति जुड़ने का मूलकारण शरीर है। अतः यदि प्राप्त शरीर से मोह-ममता की भावना यदि शिथिल पड़े, तभी यह जीव मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर हो सकता है। इस निमित्त जैनसाधना में एक विशिष्ट क्रिया का अभ्यास नित्यप्रति करने का विधान है, जिसे 'कायोत्सर्ग' कहते हैं।

इस पद में दो शब्द हैं—काय + उत्सर्ग। 'काय' अर्थात् शरीर एवं 'उत्सर्ग' यानि त्याग; —इसप्रकार 'शरीर का त्याग' अर्थात् शरीर एवं शरीर से सम्बद्ध पदार्थों में आसक्ति एवं ममत्व का त्याग कर आत्मस्थ होने की नैष्ठिक चेष्टा ही 'कायोत्सर्ग' है। शास्त्रीय शब्दावलि में "बाहर में क्षेत्र-वास्तु आदि पदार्थों का तथा अंतस् में क्रोधादि कषायों का नित्य त्याग करना, तथा अनियतकाल के लिए शरीर का त्याग करना ही 'कायोत्सर्ग' है। इसे 'व्युत्सर्ग तप' या 'व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त' भी कहते हैं। शरीर से ममत्व हटाकर बाहरी विपरीतताओं से अप्रभावित रहकर जघन्य अन्तर्मुहूर्त से लेकर उत्कृष्ट एक वर्ष-पर्यन्त निश्चल खड़े रहना 'कायोत्सर्ग' है।"

'कायोत्सर्ग' की परिभाषा विभिन्न ग्रंथों में निम्नानुसार प्राप्त होती है:—

1. कायादी-परदब्धे थिरभावं परिहरत्तु अप्पाणं ।

तस्स हवे तणुसगं जो ज्ञायदि णिव्वियप्पेण ।। — (णियमसार, 121)

अर्थ:—जो भव्यजीव शरीर आदि परद्रव्यों में आसक्ति/लीनता छोड़कर निज-आत्मा का निर्विकल्परूप से ध्यान करता है, उसे 'कायोत्सर्ग' होता है।

2. "जिणगुण-चिंतणजुत्तो काउस्सगो तणुविसगो ।" — (मूलाचार, 28)

अर्थ:—जिनेन्द्र परमात्मा के वीतरागता आदि गुणों का चिंतन करता हुआ जीव जब

देह में ममत्व छोड़ देता है, तो वही 'कायोत्सर्ग' कहलाता है।

3. "परिमितकालविषया शरीरे ममत्वनिवृत्तिः कायोत्सर्गः ।"

—(तत्त्वार्थराजवार्तिक, 6/24/11)

अर्थ:—सीमित/मर्यादित काल के लिए शरीर से ममत्व का त्याग करना 'कायोत्सर्ग' है।

4. "ज्ञात्वा योऽचेतनं कायं नश्वरं कर्मनिर्मितम् ।

न तस्य वर्तते कार्ये कायोत्सर्गं करोति सः ।।" —(योगसारप्राभृत, 5/52)

अर्थ:—जो भव्यजीव शरीर को अचेतन, विनाशशील एवं कर्मनिर्मित जानकर उसके पोषण आदि कार्यों से विरत होता है; वही 'कायोत्सर्ग' कर सकता है।

5. "सरूव-चिंतणरदो दुज्जण-सुयणाण जो हु मञ्जत्थो ।

देहे वि णिम्ममत्तो काउस्सगो तदो तस्स ।।" —(कार्तिकेयानुप्रेक्षा, 486)

अर्थ:—जो साधक निजात्मस्वरूप के चिंतन में लीन रहता है, सज्जन एवं दुर्जन के बीच मध्यस्थभाव रखता है, तथा शरीर से भी ममत्वरहित होता है; उसके 'कायोत्सर्ग' होता है।

6. "सर्वेषां जनानां कायेषु बह्वयः क्रियाः विद्यन्ते, तासां निवृत्तिः कायोत्सर्गः, स एव गुप्तिर्भवतिः ।" —(नियमसार गाथा 70 की 'तात्पर्यवृत्ति' टीका)

अर्थ:—सभी व्यक्तियों की शरीरों में अनेकविध क्रियायें होती हैं, उन क्रियाओं की निवृत्ति है 'कायोत्सर्ग' है। इसी का दूसरा नाम 'गुप्ति' भी है।

'मूलाचार' ग्रन्थ में 'कायोत्सर्ग' को 'दुःख का नाश करने की विधि' कहा गया है।

'कायोत्सर्ग' के दो प्रकार माने गये हैं— 1. मानसिक और 2. कायिक। 'भगवती आराधना' ग्रंथ की टीका में उनके बारे में कहा गया है कि— "मन से शरीर में 'यह मेरा है' —ऐसी बुद्धि का त्याग करना 'मानस कायोत्सर्ग' है तथा दोनों हाथ नीचे छोड़कर दोनों पैरों में चार अँगुलमात्र का अन्तर रखकर निश्चल खड़े होना 'कायिक कायोत्सर्ग' है।" यही बात आचार्य कुन्दकुन्द ने 'मूलाचार' में भी कही है—

"वोसरिद-बाहुजुगलो चदुरंगुल-अंतरेण समपादो ।

सव्वंग-चलणरहिदो काउस्सगो विसुद्धो दु ।।" —(गाथा 650)

'कायोत्सर्ग' की विधि के सम्बन्ध में पंडित शिवाशाधरसूरि लिखते हैं— "कायोत्सर्ग के समय अपनी प्राणवायु को भीतर प्रविष्ट करके उसे आनन्द से मुकुलित हृदयरूपी कमल में स्थिर कर 'जिनमुद्रा' के द्वारा 'णमोकार मंत्र' का ध्यान करना चाहिये। 'णमो अरिहंताणं' का जप करते समय प्राणवायु श्वास के रूप में अंदर खींचें तथा फिर पूर्वोक्त विधि से उसे अन्तस् में थोड़ी देर स्थिर करके 'णमो सिद्धाणं' का जप करते हुए निश्वास के रूप में बाहर निकाल दें। पुनः 'णमो आइरियाणं' में श्वास एवं 'णमो उवज्जायाणं' में निःश्वास, 'णमो लोए' में श्वास एवं 'सव्वसाहूणं' में निःश्वास; —इसी विधि से करें। इसप्रकार तीन श्वासोच्छ्वासों में एक मंत्र-जाप पूर्ण होता है। ऐसे नौ बार प्रयोग करने

से कर्मराशि भस्म होने लगती है। 'प्राणायाम' की इस विधि में असमर्थ साधु 'वाचिक जप' के द्वारा मंत्रजाप कर सकता है; परन्तु वह अन्य किसी को सुनाई न पड़े, इतने मंद स्वर में होना चाहिए। फिर भी मानस एवं वाचिक जापों के फल में बड़ा अंतर है। दण्डकों के उच्चारण से सौ गुना अधिक पुण्यसंचय 'वाचिक जप' में तथा हजारगुणा अधिक पुण्यसंचय 'मानस जप' में होता है।

'कायोत्सर्ग' ईर्यापथिक, दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक एवं उत्तमार्थ —इन सात अवसरों पर किये जाने से कालक्रमानुसार सात प्रकार के माने गये हैं। इनमें उच्छ्वास के अनुसार भी अन्तर पड़ता है। जैसेकि 27 उच्छ्वास दैवसिक में रात्रिक में 54 उच्छ्वास, पाक्षिक में 300 उच्छ्वास, चातुर्मासिक में 400 उच्छ्वास, वार्षिक में 500 उच्छ्वास आदि का क्रम माना गया है। इनके अतिरिक्त 'गोचरी' से आने पर, लघु व दीर्घशंका के बाद 25-25 उच्छ्वास, ग्रंथारम्भ एवं ग्रंथ-समाप्ति पर 27-27 उच्छ्वासों का कायोत्सर्ग किया जाता है।

कायोत्सर्ग के लिए पूर्व दिशा, उत्तर दिशा अथवा पूर्वोत्तर दिशा (ईशान कोण) की ओर मुँह करके अथवा जिनप्रतिमा की ओर मुँह करके आलोचना के लिए 'कायोत्सर्ग' किया जाता है। यह 'कायोत्सर्ग' एकान्त एवं बाधारहित (दूसरों के आवागमनरहित) स्थान में करना चाहिए।

'कायोत्सर्ग' के प्रयोजन बताते हुए आचार्य भट्ट अकलंकदेव लिखते हैं—“निःसंगत्व, निर्भयत्व, जीवित रहने की आशा के त्याग, दोषों का उच्छेदन, मोक्षमार्ग की प्रभावना एवं उसके निमित्त समर्पित रहने (तत्परत्व) आदि की दृष्टि से 'कायोत्सर्ग' करना आवश्यक है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि शरीर का त्याग तो मरण होने पर ही होता है, फिर मरण के बिना 'कायोत्सर्ग' कैसे संभव होता है? इसका उत्तर 'भगवती आराधना' ग्रंथ की गाथा 116 की टीका में निम्नानुसार दिया गया है—“शरीर का बिछोह न होते हुए भी शरीर की अशुचिता, अनित्यता, असारता, दुःखहेतुता एवं अनंत संसार में परिभ्रमण का कारणपना —इत्यादि दोषों का विचार कर 'यह शरीर मेरा नहीं है और मैं इसका स्वामी नहीं हूँ' —ऐसे संकल्प से शरीर के प्रति आसक्तिभाव का अभाव हो जाने से शरीर का त्याग सिद्ध हो जाता है। जैसे कि प्रियतमा पत्नी से कुछ अपराध हो जाने पर उसी घर में पति के साथ रहती हुई भी प्रेम हट जाने से वह 'त्यागी हुई' कही जाती है, उसीप्रकार आसक्ति के अभाव में यहाँ 'कायोत्सर्ग' जानना चाहिए। तथा साधुजन शरीर का बिछोह होने के कारणों को दूर करने में निरस्तुक रहते हैं, इसलिए भी उनके 'कायोत्सर्ग' कहा जाना युक्तिसंगत ही है।”

'निश्चय कायोत्सर्ग' के बारे में आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव 'नियमसार' की टीका में लिखते हैं—

“कायोत्सर्गो भवति सततं निश्चयात् संयतानाम् ।

कायोद्भूतं प्रबलतरतत्कर्ममुक्तेः सकाशात् ॥

वाचां जल्प-प्रकर-विरतेर्मानसानां निवृत्तेः ।

स्वात्मध्यानादपि च नियतं स्वात्मनिष्ठापराणाम् ॥” —(कलश 191)

अर्थ:—जो निश्चय से स्वात्मनिष्ठापरायण (आत्मध्यान में लीन) हैं, जिन्होंने प्रबल शारीरिक क्रियाओं को त्याग दिया है, वाचिक जल्पसमूह से भी जो विरत हैं तथा मानसिक विकल्पों से भी निवृत्त हैं —एसे संयमी जीवों के निज आत्मा के ध्यान के कारण निश्चय से निरन्तर ‘कायोत्सर्ग’ होता है ।

आचार्य कुन्दकुन्द ने ‘कायोत्सर्ग’ को ‘मोक्ष का उपकारी’ बताया है—

“काउत्सर्गं मोक्षपहे देहसयं घादिकम्म-अदिचारं ।

इच्छामि अहिद्दातुं जिणसेविद-देसिदत्तादो ॥” —(मूलाचार 7/651)

अर्थ:—यह ‘कायोत्सर्ग’ मोक्षमार्ग का उपकारी है, घातिया कर्मों का भी विनाशक है, उसे मैं हृदय से स्वीकारता हूँ, क्योंकि वीतराग जिनेन्द्र भगवन्तों ने इसका सेवन किया है और सेवन करने का उपदेश भी दिया है ।

आश्चर्य की बात है कि मोक्षमार्ग के इतने महत्त्वपूर्ण अंग ‘कायोत्सर्ग’ की व्यावहारिक प्रक्रिया को दिगम्बर जैन समाज प्रायः भूल चुका है । मात्र रूढ़िवश यत्किंचित् रूप से हम करते हैं । जबकि इसकी बाह्य विधि भी बड़ी वैज्ञानिक है । प्रसन्नता की बात है कि दिगम्बर जैनाचार्यों के ग्रंथों का गहन स्वाध्याय करनेवाले श्वेताम्बर जैन तेरापंथ के वर्तमान आचार्य महाप्रज्ञ जी ने वर्षों पहिले इसकी बाह्य विधि की सूक्ष्म शोध लगाकर अपना है और इसे उदारभाव से जिज्ञासुओं को सिखाने का कार्य किया है । उनकी शोध प्रामाणिक है तथा प्रथम भूमिका में बहुत उपयोगी भी है । हमारे साधुगण एवं विद्वान् इस महनीय मोक्षमार्गीय प्रक्रिया को विधिवत् सीखकर समाज को प्रशिक्षित करें, तो बाहरी तनाव (टेंशन) आदि से बचकर समताभाव की आराधना एवं मोक्षमार्ग में अग्रसर होने का एक अच्छा वातावरण निर्मित हो सकता है । ❖❖

अनित्य-भावना

‘नलिनी-दलगत-जलवत्तरलं तद्वज्जीवनमतिशयचपलम् ।

क्षणमपि सज्जन-संगतिरेका भवति भवार्णव-तरणे नौका ॥’

—(आद्य शंकराचार्य, मोहमुद्गर, 7)

अर्थ:—जैसे कि कमलिनी के पत्ते पर पड़ा हुआ जलबिन्दु अत्यधिक चंचल, अस्थिर होता है; उसीप्रकार यह जीवन भी अत्यन्त चपल (क्षणभंगुर या विनाशशील) है । ऐसी विषमता में भी यदि कोई व्यक्ति क्षणभर के लिए भी सज्जन की संगति करता है, तो वह उसे संसाररूपी समुद्र से पार उतरने के लिए नौका के समान सहायक सिद्ध होती है ।

वस्त्रोवेष्टित साधु : दयामूर्ति कृष्णामेनन

केरल के सम्राट् के प्रधानमंत्री के यशस्वी कुल में जन्मे महाप्रज्ञावान्, दयामूर्ति, प्राणीमात्र के प्रति वात्सल्यभाव के धनी विश्वविख्यात भारती प्रतिभाय का नाम था 'कृष्णा मेनन' जी। उनका व्यक्तित्व इतना महान् था, कि उनके विचारों एवं कार्यों के समक्ष आज के अतिविशिष्ट व्यक्तित्व भी बौने प्रतीत होते हैं। किसी पशु-विशेष की रक्षा के लिए आन्दोलन छेड़ने वाले लोग इस जैनकुल में जन्म-ग्रहण न करने पर भी जैनत्व की "मा हिंस्यात् सर्वभूतानि" की व्यापक दृष्टि को आत्मसात् करनेवाली महान् विभूति के जीवन-दर्शन को जानकर अपने लक्ष्य एवं निर्देशों का पुनर्विचार करें। 'सत्य' या 'धर्म' आन्दोलनों का विषय नहीं है, अपितु वह जीवन में उतारने एवं अपनी दृष्टि को तदनु रूप व्यापक बनाने के लिए होता है। अन्यथा "सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं" की भावना 'चर्चा' का विषय बनकर रह जायेगी, 'चर्चा' का विषय नहीं बन पायेगी।

कालजयी व्यक्तित्व श्री कृष्णा मेनन जी भारतीय दर्शन एवं तुलनात्मक दर्शनशास्त्र के अधिकारी विद्वान् एवं साधक मनीषी थे। जब उनके पिता ने वकालत की पढ़ाई के लिए दो वर्ष के लिए ब्रिटेन भेजा, तो वे वहाँ दो वर्ष तक मात्र दर्शनशास्त्र का ही अध्ययन करते रहे। जब उनके पिता ने उन्हें चेतावनी दी, तब उन्होंने बैरिस्टर की पढ़ाई पूर्ण की। उन्होंने दर्शनों को चर्चा एवं शुष्कज्ञान का विषय नहीं बनाया था, अपितु आत्मसात् भी किया था। वे उच्चतम प्रशासनिक पदों पर रहते हुए भी एक महान् आध्यात्मिक साधक थे। उनके इस विराट किंतु निस्पृह व्यक्तित्व की अलक प्रस्तुत करने के लिए सद्य प्रकाशित पुस्तक 'Krishna Menon and Contemporary Politics' (लेखक-दलजीत सेन आदिल एवं प्रकाशक-इन्स्टीट्यूट फॉर सोशलैस्ट एजुकेशन, सेक्यूलर हाउस, नई दिल्ली-67) के एक पृष्ठ (पृ०सं० 230) का मूल अंग्रेजी अंश हिन्दी-रूपान्तर के साथ यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

—सम्पादक

On another occasion, Krishna Menon, then High Commissioner in UK, while going in a lift in the High Commissioner's office in London saw a young lift-operator in a sad and melancholy mood. On being asked, the lift-operator told him that he had lost his wrist watch. Without entertaining a second thought, Krishna Menon immediately gave his costly wrist watch to him and asked him to cheer up. There was sudden glow on the face of the lift-operator who thanked him for the gift.

A Friend on animals

Krishna Menon disliked the idea of a man going in a cart drive by a 'poor' horse, whipped up mercilessly time and again. He never rode a horse or an elephant thought there were a number of elephants in his ancestral home in the youthful days of his life.

Once a tamed elephant in his ancestral home ran amuck and finding no way to control the elephant, his grandfather desired that the elephant be shot dead. But young Krishna Menon did not like the idea and persuaded him not to kill the elephant. So, the life of an animal was saved and the Mahout succeeded in controlling the elephant.

Once a leading Jain monk, Muni Sushil Kumar, who was active in the 'ban cow slaughter movement' approached Krishna Menon to get his signatures on an appeal demanding a ban on cow slaughter. The Muni was surprised when Krishan Menon told him: 'Why ban only cow slaughter? Why not ban slaughter of all animals?' The Muni was taken aback to find such a vociferous supporter of non-violence and a friend of animals.

हिन्दी रूपान्तर

ब्रिटेन में भारत के तत्कालीन उच्चायुक्त श्री कृष्णा मेनन जब (ब्रिटेन में) अपने दफ्तर की लिफ्ट में जा रहे थे, तो उन्होंने युवक लिफ्टचालक को उदास अवस्था में पाया। कारण पूछने पर उसने बताया कि 'उसकी हाथ की घड़ी कहीं खो गई है।' उसी क्षण बिना विशेष सोचे विचारे श्री मेनन ने अपने हाथ की कीमती घड़ी को उतारकर उसे दे दी और उसे खुश रहने को कहा। घड़ी पाते ही युवक के चेहरे पर खुशी की लहर दौड़ पड़ी और उसने उन्हें 'धन्यवाद' कहा।

जानवरों के एक मित्र

कृष्णा मेनन को किसी घोड़ा गाड़ी में, जिसमें घोड़े को बार-बार बेरहमी से चाबुक मारा जाता है, उस गाड़ी से जाना बिल्कुल पसन्द नहीं था। उन्होंने कभी भी घोड़े या हाथी की सवारी नहीं की, यद्यपि उनकी युवावस्था में उनके पुश्तैनी घर में बहुत सारे हाथी थे।

एक समय उनके पुश्तैनी घर में एक सधा हुआ (पालतू) हाथी पागल हो गया। उसको नियंत्रित करने का ओर कोई उपाय न पाकर उनके दादाजी ने उसे मारने का विचार किया। लेकिन युवक कृष्णा मेनन को उनका यह विचार पसन्द नहीं आया और उन्होंने अपने दादाजी को हाथी को न मारने के लिए मना लिया। इस तरह से एक जानवर की जिन्दगी बच गई। कुछ समय बाद महावत ने उसको काबू करने में सफलता प्राप्त कर ली।

एक बार जैन संत मुनि सुशील कुमार जो कि 'गोवध-प्रतिबंध आन्दोलन' में सक्रिय थे। उन्होंने कृष्णा मेनन से 'गोवध-प्रतिबंध आन्दोलन' के माँगपत्र पर हस्ताक्षर करने का आग्रह किया। लेकिन मुनिश्री को आश्चर्य हुआ जब श्री मेनन ने उनसे कहा कि "सिर्फ गोवध ही क्यों? सभी जानवरों की हत्या पर प्रतिबंध लगाना चाहिए।" मुनि जी को जानवरों के एक मित्र और अहिंसा के कट्टर समर्थक को पाकर हैरानी हुई।



जैन-संस्कृति एवं तीर्थकर-परम्परा

—बिशम्बरनाथ पांडे

यह महत्त्वपूर्ण सामग्री सुप्रसिद्ध विद्वान् एवं उड़ीसा प्रांत के भूतपूर्व राज्यपाल स्व० श्री विशम्बरनाथ जी पांडे की अमरकृति 'भारत और मानव संस्कृति' में आयी है। जैन-संस्कृति एवं तीर्थकर-परम्परा के बारे में उनके निष्पक्ष एवं प्रामाणिक विचार निश्चय ही सीमित सोच एवं पूर्वाग्रह रखनेवाले व्यक्तियों को चिंतन के नूतन आयाम प्रदान करेंगे। अन्य जिज्ञासु पाठकवृन्द को तो यह आलेख एक पौष्टिक ज्ञानभोजन के रूप में आनन्ददायी होगा ही।

—सम्पादक

जैन-संस्कृति का मर्म

जैन-संस्कृति के बाहरी स्वरूप में अनेक वस्तुओं का समावेश हुआ है। शास्त्र, भाषा, मन्दिर, स्थापत्य, मूर्ति-विधान, उपासना के प्रकार, उसमें काम आने वाले उपकरण तथा द्रव्य, समाज के खान-पान के नियम, उत्सव, त्यौहार आदि अनेक विषयों का जैनसमाज के साथ एक निराला संबंध है।

प्रश्न यह है कि जैन-संस्कृति का मर्म क्या है? इसका संक्षिप्त जवाब तो यही है कि 'निवर्तक धर्म' जैन-संस्कृति की आत्मा है। जो धर्म निवृत्ति करानेवाला अर्थात् पुनर्जन्म के चक्र का नाश करानेवाला हो या उस निवृत्ति के साधनरूप से जिस धर्म का आविर्भाव, विकास और प्रचार हुआ हो, वह 'निवर्तक धर्म' कहलाता है।

निस्संदेह जैन-श्रमणों ने साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका — इस 'चतुर्विधि संघ' का सुंदर संगठन किया था। श्रावक-श्राविका अपने धर्मगुरुओं के आहार आदि की व्यवस्था करते थे, जबकि धर्मगुरु अपने 'चतुर्विधि संघ' की देखभाल करते, धर्मप्रचार और आत्म-संशोधन में अपनी सारी शक्ति लगाते थे। वास्तव में देखा जाये तो यह बड़ा ही सुंदर कार्य-विभाजन था।

जैन-संस्कृति की विशेषता है कि केवल मनुष्य को ही नहीं, अपितु जीवमात्र को अभय बनाना। जैन-संस्कृति कहती है "दूसरों को विवेकपूर्ण जीवन बिताने के लिये प्रोत्साहित करो—उन्हें सहयोग दो।" जैन-संस्कृति गृहस्थ को भी इन्द्रियवासना से मुक्त होने की शिक्षा देती है। जैनधर्म का पालन करनेवाले व्यक्ति को सात व्यसनों का पहले त्याग करना चाहिये, तब कहीं वह श्रावक बन सकता है। धर्म पर श्रद्धा लाते ही उसे वासनाओं को जीतने का प्रयत्न प्रारंभ कर देना होगा। सात व्यसन ये हैं, जिनका त्याग उसे करना चाहिए— 1. शिकार खेलना, मछली मारना आदि, 2. झूठ बोलना, 3. वेश्या-सेवन और परस्त्रीगमन, 4. चोरी, 5. शराब, भांग, चरस, मद्यपान आदि, 6. जुआ खेलना और 7. मांस खाना।

जब यह गृहस्थ अपनी वासनाओं को जीत लेगा उन पर अधिकार जमाने की क्षमता हासिल कर लेगा, तब वह पापों और दोषों से बचने के लिये अहिंसा आदि व्रतों को धारण करेगा। उसका नैतिक चरित्र दृढ़ होगा और हृदय दया से परिपूर्ण होगा। नागरिक आध्यात्मिक उन्नति करता—हुआ गृहस्थ के ग्यारह दर्जों को पालता हुआ, जब कषाय और कामवासना को पूर्णतः जीतने के लिये कटिबद्ध होता है, तब वह साधु होता है और दिगम्बर भेष में ज्ञान-ध्यान में लीन रहकर लोकोपकार में अपनी सारी शक्ति लगा देता है। साधु होने के पहले वह गृहस्थ के सातवें दर्जे से पूर्ण ब्रह्मचर्य का अभ्यास प्रारंभ करता है और ग्यारहवें दर्जे में पहुँचकर अपने तन पर सिर्फ एक लंगोटी रखता है। उसका ध्येय साधुपद धारण करके स्वयं बंधनमुक्त होना और लोक को बंधनमुक्त करना होता है। यह है जैन-संस्कृति की साधारण रूपरेखा।

तीर्थकर-परम्परा

जैनदर्शन का विश्वास है कि जैनधर्म शाश्वत है, उसके तत्त्वों का कभी नाश नहीं होता। अहिंसा और मैत्री मनुष्य के लिए प्रकृति-सुलभ हैं—वे मिटें कैसे? और जैनधर्म की आधारशिला अहिंसा ही है। ऋतु-परिवर्तन की तरह धर्म का भी उन्नति और अवनति होती है। इसलिए जैनी कहते हैं कि प्रत्येक कल्पकाल में चौबीस तीर्थकर क्रमशः जन्म लेकर जगत् का उद्धार करते हैं। इस कल्पकाल में भी चौबीस तीर्थकर हो चुके हैं, जिनमें से पहले श्री ऋषभदेव थे और अंतिम वर्द्धमान महावीर।

ऋषभदेव से लेकर वर्द्धमान महावीर तक जैन-मान्यता के अनुसार 24 महापुरुष हुए हैं, जिनको 'तीर्थकर' कहते हैं। तत्त्वज्ञान की दृष्टि से उन सबने एकप्रकार के ही उपदेश दिये हैं। समय के अनुसार आचार का बदलना अनिवार्य होने पर भी तत्त्वज्ञान के विषय में सभी एकमत हैं। यह बात ऐतिहासिकों को न जँचे, यह सम्भव है; किन्तु हमारे पास इसकी सत्यासत्यता जाँचने का कोई साधन नहीं है। इन सभी तीर्थकरों का जो अस्तित्वकाल जैन विद्वान् बताते हैं, उनकी परीक्षा करने का भी हमारे पास कोई साधन नहीं है। फिर भी ऋषभदेव, शान्तिनाथ और नेमिनाथ—इन तीनों प्रागैतिहासिक पुरुषों के अस्तित्व में संदेह की गुंजाइश नहीं है। उनके निश्चित समय के बारे में भले ही संदेह हो सकता है। पार्श्वनाथ और महावीर के विषय में तो अब ऐतिहासिक लोग भी असंदिग्ध हो गये हैं। पर जैन तत्त्वज्ञान और आचार के उपदेशों के रूप में जो कुछ आज हमारे सामने ग्रंथबद्ध मौजूद है, वह तो तीर्थकर महावीर के उपदेश का ही फल है। महावीर ने तीर्थकरों की परम्परा में से बहुत कुछ सीखा और समझा होगा और अपने उपदेश की धारा उसी परम्परा के अनुरूप बहायी होगी। महावीर के उपदेश के रूप में जो कुछ हमारे सामने है, उसमें से बहुत कुछ पूर्व तीर्थकरों का ही उपदेश समझना चाहिये, शब्द चाहे भले ही महावीर के हों।

पहले तीर्थंकर ऋषभदेव जी को हिंदू-पुराणों में आठवां माना गया है। बाईसवें तीर्थंकर पार्ष्वनाथ काशी के इक्ष्वाकुवंशी राजा विश्वसेन के सुपुत्र थे। वह अंतिम तीर्थंकर से 250 वर्ष पहले सम्मेदशिखर से मुक्त हुए थे। अंतिम तीर्थंकर महावीर वर्द्धमान क्षत्रियपुत्र सिद्धार्थ के राजकुमार थे। उन्होंने ईसवी सन् से 527 वर्ष पहले 'निर्वाण' पद पाया था। बिहार प्रांत का 'पावाग्राम' ही उनका निर्वाणधाम है। जैनशास्त्रों में चौबीसों तीर्थंकरों के जीवन-चरित्र अंकित हैं, परंतु पहले 22 तीर्थंकरों की आयु और कार्य का लंबा-चौड़ा वर्णन जिज्ञासुओं को शंका में डाल देता है। पाश्चात्य विद्वान् तो उन्हें पौराणिक बताते हैं और कहते हैं कि जैनधर्म के संस्थापक 23वें तीर्थंकर पार्ष्वनाथ हैं। किंतु यह मान्यता निराधार है और जैकोबी को यह स्वीकार करना पड़ा कि जैन-मान्यता में कुछ ऐतिहासिकता है। पूर्वकाल में मनुष्यों की आयु और काय लंबी और बड़ी होती थी। मोहन-जोदड़ों (सिंधु) से मानव-शरीरों के जो अस्थिपिंजर मिले हैं, वे इनके साक्षी हैं। वहाँ से लगभग 4-5 हजार वर्ष पुरानी मुद्रायें और मूर्तियाँ मिली हैं, जो कुछ विद्वानों के अनुसार जैन-मूर्तियों से मिलती हैं।

यथार्थतः जैनधर्म का इस काल में आदिप्रचार तीर्थंकर ऋषभदेव द्वारा ही हुआ है। ब्राह्मण एवं बौद्ध-साहित्य और शिलालेखीय साक्ष्य भी यही बताते हैं। यूं तो स्वयं 'ऋग्वेद' में ही 'ऋषभ' नामक व्यक्ति का उल्लेख है, परंतु विद्वानों को शंका है कि वह जैन-तीर्थंकर थे। सायण ने वह व्यक्तिवाचक नाम बताया है। यहाँ पर इस हिंदू-पुराण-प्रकरण को स्पष्ट कर देते हैं। उनमें सिर्फ एक ही 'ऋषभ' का वर्णन है, जो जैन-तीर्थंकर के चरित्र के सर्वथा अनुकूल है। अतः प्रो० विरूपाक्ष वहियर वेदतीर्थ के मतानुसार 'ऋग्वेद' में प्रथम तीर्थंकर का उल्लेख मानना अनुचित नहीं है। बौद्ध-ग्रंथ 'न्यायबिंदु' (अ० 3), 'सतशास्त्र' और 'आर्यमंजुश्री मूलकल्प' में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का उल्लेख है और उन्हें 'जैनधर्म का प्रतिपादक' लिखा है।

उधर कलिंग की हाथीगुम्फावाले प्रसिद्ध (ई० पूर्व द्वितीय श०) शिलालेख में अग्रजिन (ऋषभदेव) की उस मूर्ति का उल्लेख है, जिसे नंदवर्द्धन पटना ले गया था। यहाँ उस काल की अन्य तीर्थंकरों की मूर्तियाँ मिलती हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि ऋषभदेव की मान्यता नंद-राजाओं के काल में भी प्रचलित थी। 'कंकाली टीला' मथुरा से कुषाणकालीन ऐसी जिन-मूर्तियाँ निकली हैं, जिन पर ऋषभ आदि अनेक तीर्थंकरों के नाम अंकित हैं। वहाँ एक शिलापट (आयागपट्ट) ऐसा मिला है, जिस पर कई तीर्थंकरों की मूर्तियाँ अंकित हैं और जिसे प्रो० बुल्हर व स्मिथ तेईसवें तीर्थंकर पार्ष्वनाथ के समय का बताते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि चौबीस तीर्थंकरों की मान्यता ई० पूर्व आठवीं शताब्दी में भी प्रचलित थी। अब यदि यह तीर्थंकर वास्तव में हुये ही न होते, तो उस प्राचीन काल के लोग उनकी मूर्तियाँ क्यों बनाते और क्यों उनके नाम की माला जपते? अतः जैनों की

मान्यता की 24 तीर्थकरों ने क्रमानुसार इस काल में धर्म का प्रतिपादन किया उचित प्रतीत होती है।

जैनशास्त्र कहते हैं कि मध्यवर्ती तीर्थकरों के समय में जीव सरल और विवेकी थे, इसलिये जैनधर्म के आचार-नियमों का प्रतिपादन सामान्यरूप में किया गया था—उनकी भेद-विवक्षा नहीं की गई थी। वे सामयिक चरित्र का पालन करते थे, परंतु पहले और अंतिम तीर्थकरों के समय जीव क्रमशः भोले भाले थे*, इसलिये उन्हें धर्म के आचार-विचार बताये गये थे (मूलाचार देखो)। पार्श्वनाथ के शिष्यगण कुशील आदि दोषों का प्रायश्चित पृथक् न लेकर समष्टिरूप में लेते थे, परंतु महावीर ने प्रत्येक पाप का पृथक् उल्लेख करके उसका प्रायश्चित भी अलग किया। अंतिम तीर्थकर का बताया हुआ शासन अब तक चला आ रहा है। इस तरह तीर्थकरों की भाव-परंपरा अभी तक जीवित है। उसकी यह विशेषता है कि उसमें केवल त्याग और साधना के चरम प्रतीक साधुओं आदि अर्जिकाओं (साध्वियों) को ही स्थान प्राप्त हो, यह बात नहीं वरन् ग्रहस्थ श्रावक और श्राविकाओं को भी उसमें स्थान प्राप्त था। दोनों के सहयोग से ही जैनसंघ का अभ्युदय हुआ था और वह अब तक मौजूद है। ❖❖

—(साभार उद्धृत 'भारत और मानव संस्कृति, खंड-1, पृष्ठ XXVIII-XXXIX तथा पृ० 112-115 तक से)

* प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव के समय के मनुष्यों को 'ऋजुजड़' (अर्थात् सरल परिणामी भोले अज्ञानी जीव) कहा गया है तथा अंतिम तीर्थकर वर्द्धमान महावीर के समय पंचमकाल का प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगने से शिष्यों में कुटिलता बढ़ जाने से उन्हें 'वक्रजड़' (अर्थात् छल-कपट में चतुर अज्ञानी जीव) कहा गया है। ये दोनों ही आचरण में भूल करते थे, अतः इन्हें प्रतिदिन 'प्रतिक्रमण' की अनिवार्यता बतायी गयी है। शेष मध्यवर्ती बाईस तीर्थकरों के शासनकाल के जीव 'ऋजुविज्ञ' (सरलपरिणामी व समझदार) होने से उन्हें 'प्रतिक्रमण' प्रतिदिन अनिवार्य नहीं था; क्योंकि वे त्रुटियाँ नहीं करते थे। वे धर्मविधि सावधानीपूर्वक शुद्धरीति से करते थे।

सरस्वती-महिमा

“भुवणत्पुयत्पुणदि जदि, जगे सरस्सदी ! संततं तुहं तहवि ।

ण गुणंतं लहदि तहिं, को तरदि जगे जणो अण्णो ।।”

—(आचार्य पद्मनन्दि, 57/738)

अर्थः—हे सरस्वती ! यदि लोक में सम्पूर्ण विश्व मिलकर भी आपकी निरंतर स्तुति करे, तो भी आपके गुणों का पार नहीं पा सकता है; तब फिर आपके गुणों का पार पाने में कोई एक व्यक्ति कैसे समर्थ हो सकता है।

‘प्राचीन भारत’ पुस्तक में जैनधर्म कुछ भ्रान्तियों का निराकरण

—राजमल जैन

भारत सरकार की शैक्षणिक संस्था एन०सी०ई०आर०टी० द्वारा प्रकाशित पुस्तक ‘प्राचीन भारत’, जो कि 11वीं कक्षा में पढ़ाई जाती है, में जैनधर्म-संबंधी कुछ भ्रान्तिपूर्ण उल्लेख पाये गये हैं। उनका निराकरण करना इस लेख का प्रमुख उद्देश्य है; ताकि संबंधित अधिकारियों एवं विद्यार्थियों को जैनधर्म-संबंधी सही जानकारी मिल सके।

इस पुस्तक में ‘वर्धमान महावीर और जैन-संप्रदाय’ शीर्षक उपयुक्त नहीं जान पड़ता है। इससे यह ध्वनित होता है कि वर्धमान महावीर जैनधर्म के संस्थापक हैं। इस लेख के लेखक ने स्वयं ही तेईसवें तीर्थंकर पार्ष्वनाथ का उल्लेख किया है, जिनका निर्वाण वर्धमान महावीर के निर्वाण से 250 वर्ष पूर्व हुआ था। उनकी ऐतिहासिकता इतिहास में स्वीकृत है। इसके अतिरिक्त लेखक ने इस तथ्य का उल्लेख नहीं किया कि ‘जैनधर्म के वास्तविक संस्थापक प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव थे।’ जबकि इसके पोषक कुछ प्रमाण निम्न प्रकार हैं—

दर्शन-इतिहास का प्रमाण:—भारत के सर्वमान्य दार्शनिक एवं ‘दर्शनशास्त्र का इतिहास’ के लेखक डॉ० राधाकृष्णन् का इस संबंध में मत यहाँ उद्धृत किया जाता है। “There is no doubt that Jainism prevailed before Vardhaman or Parswanarth. The Yajurveda mentions the names of three Tirthankaras— Rishabha, Ajitnatha, and Aristanemi. The Bhagavata Purana endorses the view that Rishabha was the founder of Jainism.” —(Radhakrishnan. S., *Indian Philosophy, Vol. 1&2, 1983*) आशा है कि इस अध्याय के लेखक डॉ० राधाकृष्णन को अ-गंभीर या साधारण लेखक नहीं ठहरायेंगे।

पुरातत्ववेत्ता:—श्री बी०सी० भट्टाचार्य का कथन है, “The first tirthankar Risabhdeva about whom recorded traditions are so varied and images (say of the Kushan age) are so many that one finds it difficult to disavow his historical existence.” —(P.25, B.C. Bhattacharya, *Jain Iconography, second edition, 1974*).

बौद्ध-साहित्य का प्रमाण:—डॉ० भागचंद्र जैन भास्कर ने ‘Jainism in Buddhist Literature’ नामक शोधप्रबंध में पृ० 23 से 25 तक 1. ऋषभ, 2. अजित, 3. सुपार्ष्व, 4. पद्मप्रभु, 5. पुष्पदंत, 6. विमलनाथ, 7. धर्मनाथ, 8. अरिष्टनेमि और 9. पार्ष्वनाथ तीर्थंकरों का उल्लेख बौद्ध-ग्रंथों में पाया है।

बौद्ध-न्यायग्रंथ ‘न्यायविनिश्चय’ (टीका 3, 142) में उल्लेख है, “यथा ऋषभो

वर्धमानश्च यस्य स ऋषभवर्धमानादिः दिगम्बराणां शास्ता सर्वज्ञ आप्तश्चेति ।”

चीनी बौद्ध-साहित्य का संदर्भः—Thus says Prof. Rajime Nakamura “बौद्ध धार्मिक ग्रंथों के चीनी भाषा में जो रूपांतरित संस्करण उपलब्ध हैं, उनमें यत्र-तत्र जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव-विषयक उल्लेख मिलते हैं। ३० ऋषभदेव के व्यक्तित्व सेनापानी भी अपरिचित नहीं हैं—जापानियों को उनका परिचय चीनी-साहित्य द्वारा हुआ है—जापानी उन्हें ‘राक्षव’ नाम से पुकारते हैं। —(‘णणसायर’ के ‘ऋषभ अंक’ 1994 में प्रकाशित लेख से)।

हिंदू-पुराणों में 24 तीर्थंकरः—‘पुराण’ शब्द का अर्थ है ‘पुरा भवः’ अर्थात् प्राचीन काल में ऐसा हुआ। इसीप्रकार ‘इतिहास’ शब्द का अर्थ है “इति इह आसीत्” यानी प्राचीनकाल में ऐसा था। दोनों ही व्युत्पत्तियों से पुराणों में प्राचीन इतिहास है —ऐसा बोध होता है। जैनों का भी कुछ इतिहास हिंदू-पुराणों में सुरक्षित है। वैदिक धारा के ‘पद्मपुराण’ में 24 तीर्थंकरों का स्पष्ट उल्लेख है। देवासुर-संग्राम के प्रसंग में दानवों से निम्नलिखित कहलाया गया है—

“अस्मिन् वै भारते वर्षे जन्म वै श्रावके कुले ।

तपसा युक्तमात्मानं केशोत्पाटनपूर्वकम् ॥ 389 ॥

तीर्थंकराश्चतुर्विंशत्तथा तैस्तु पुरस्कृतम् ।

छायाकृतं फणीन्द्रेण ध्यानमात्र-प्रदेशिकम् ॥ 390 ॥”

अर्थ स्पष्ट है और 24 तीर्थंकरों की विद्यमानता को सूचित करता है। —(सं० मंडलीक, पद्मपुराण, अध्याय 13, श्लोक ऊपर लिखे अनुसार, आनंदाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1893)

निवृत्तिमार्ग सबसे प्राचीनः—दर्शनशास्त्र का ज्ञान जिन्हें है, वे यह भली-भाँति जानते हैं कि वैदिकधर्म प्रवृत्तिवादी है और जैनधर्म निवृत्तिमार्ग का पोषक है। बौद्धधर्म को भी इस धर्म का राही बताया जाता है; किंतु उसकी परंपरा प्राचीन नहीं है —यह सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। भागवतकार का कथन है—

“यथा गतिर्देवमनुष्योः पृथक् । स्व एव धर्मे न परं क्षिपेस्थितः ॥ 19 ॥

कर्मप्रवृत्तं च निवृत्तमप्यनृतं....20 ॥” —(भागवत, स्कंध चतुर्थ, अध्याय 4)

(उक्त पंक्तियों का गीता प्रस संस्करण में दिया गया अर्थ—“जिसप्रकार देवता और मनुष्यों की गति में भेद रहता है, उसीप्रकार ज्ञानी और अज्ञानी की स्थिति भी एक-सी नहीं होती। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह अपने ही धर्ममार्ग में स्थित रहते हुए भी दूसरों के मार्ग की निंदा न करे। प्रवृत्ति (यज्ञ यागादि) और निवृत्ति (शम-दमादि) रूप दोनों ही प्रकार के कर्म ठीक हैं।)”

अब निवृत्तिमार्ग की प्राचीनता-संबंधी उद्धरणः—

“सनकं च सनन्दं च सनातनमात्मभूः ।

सनत्कुमारं च मुनीन्निष्क्रियान्ध्विरतसः ॥ 4 ॥

तान बभाषे स्वभूः पुत्रान् प्रजाः सृजत पुत्रकाः ।

तन्नैच्छन् मोक्षधर्मिको वासुदेवपरायणाः ॥ 5 ॥”

—(भागवत, तृतीय स्कंध, द्वादश अध्याय)

प्रसंग यह है कि ब्रह्माजी ने पहली सृष्टि में राग, द्वेष, मोह आदि पांच अज्ञानवृत्ति से पूर्ण पहली सृष्टि उत्पन्न की। उससे उन्हें संतोष नहीं हुआ, तो उन्होंने सनक, सनंदन, सनातक और सनत्कुमार —ये चार ऊर्ध्वरेता मुनि उत्पन्न किए और उनसे प्रजा का सृजन करने के लिए कहा; किंतु उन्होंने ऐसा नहीं किया। इस पर ब्रह्माजी को क्रोध आ गया। उनके शरीर के दो टुकड़े हो गए, जिनसे एक स्त्री-पुरुष का जोड़ा स्वायंभुव मनु और शतरूपा के रूप में प्रकटा। उससे प्रजा की सृष्टि हुई तथा प्रियव्रत का वंश चला।

एक दिन सनत्कुमार आदि चारों श्रीहरि से मिलने बैकुण्ठ में जा पहुँचे; किंतु द्वारपालों ने उन्हें रोक दिया। कारण—

“तान् वीक्ष्यवातरशानांश्चतुरः कुमारान् । वृद्धान्दशार्धवसयो विदितात्मतत्वान्... ॥”

—(श्लोक 30 का पूर्वार्ध भाग, भागवत, स्कंध 3, अध्याय 15)

पुराण में दिया अनुवाद—“वे चारों कुमार पूर्णतत्त्वज्ञ थे तथा ब्रह्मा की सृष्टि में आयु में सबसे बड़े होने पर भी पाँच वर्ष के बालक से जान पड़ते थे और दिगंबरवृत्ति से (नंग-धड़ंग) रहते थे।” जैन-परंपरा में दिगंबर मुनि को ‘यथाजातकल्प’ कहा गया है। ‘यथाजात’ का अर्थ है—जैसा जन्मा अर्थात् जन्म के समय बालक का जैसा निर्विकार सहज रूप होता है, वैसा रूप।’

हिंदू-पुराणों में ऋषभदेव का समय:—हिंदू-कालगणना के अनुसार सृष्टि को बने 1, 97, 29, 49, 095 वर्ष अर्थात् लगभग दो करोड़ वर्ष बीत चुके हैं। ऋषभदेव स्वायंभुव मनु (जो कि प्रथम मनु थे) की पाँचवी पीढ़ी में हुए थे। एक मनु से दूसरे मनु में (मन्वन्तर) 30 करोड़ 67 लाख 20 हजार वर्षों का अंतर होता है और 17 लाख 28 हजार वर्ष तक प्रलय भी होता है। इस हिसाब से ऋषभदेव का प्रार्दुभाव 1 अरब 66 करोड़ 45 लाख 1096 वर्ष पूर्व होना चाहिए। (अंतिम को छोड़कर शेष आंकड़े मैंने प्रो० जी०आर० जैन के लेख ‘जैन जगत् की उत्पत्ति...’ लेख से लिए हैं जो कि ‘आचार्य देशभूषण अभिनंदन ग्रंथ’ में प्रकाशित हैं।)

‘शिवपुराण’ में शिवजी कहते हैं कि “मै ‘निवृत्तिपथवृद्धये’ ऋषभ होऊँगा” (अध्याय 4, श्लोक 35)। इस पुराण के अंत में कहा गया है—

“ऋषभस्य चरित्रं ही परमं भावनं महत् । स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्यं श्रोतव्यं च प्रयत्नतः ॥”

(उपर्युक्त अध्याय, श्लोक 48) इस श्लोक के बाद ‘शिवपुराण’ समाप्त हो जाता है।

पं० बलदेव उपाध्याय ‘पद्मपुराण’ के भूमिखंड का परिचय देते हुए लिखते हैं, “किसी

छद्मवेशधारी पुरुष के द्वारा जैनधर्म का वर्णन सुनकर वेन उन्मार्गगामी बन जाता है। तब वैदिक सप्तर्षियों के द्वारा उसकी भुजाओं का मंथन होता है, जिससे पृथु की उत्पत्ति होती है।” अत्यंत प्राचीनकाल में जैन राजा की यह दशा हुई। हिंदू-मान्यता के अनुसार इस धरती का पृथ्वी नाम इसी ‘पृथु’ के नाम पर है।

ब्रह्माजी ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का स्थान निश्चित कर दिया। उसके बाद के श्लोक में यह उल्लेख है कि “88 हजार ऊर्ध्वरता मुनि हैं, जिनका स्थान गुस्कुलवासियों जैसा है।” (विष्णुपुराण, प्रथम अंश, अध्याय 6, श्लोक 36) ये उर्ध्वरता जैन मुनि संभव हैं।

‘भागवत’ में भी ‘भगवान् अजित’ की चर्चा है; किंतु वहाँ ‘अजित’ का अर्थ श्रीहरि कर दिया गया है। (स्कंध 8, अध्याय 5, श्लोक 24)

डॉ० रायचौधरी ने अपने ग्रंथ *History of Vaishnavism* में यह मत व्यक्त किया है, “Lord Krishna and Neminath were cousins. Skandpuran also mentions श्याममूर्ति दिगंबर: नेमिनाथ:” —ये नेमिनाथ की ऐतिहासिकता का प्रमाण है।

पार्श्वनाथ और महावीर की ऐतिहासिकता तो स्वीकार कर ही ली गई है।

स्वामी कर्मानंद ने अपनी पुस्तक ‘धर्म का आदि-प्रवर्तक’ (1940 में अंबाला से प्रकाशित) में लिखा है “बाल्यकाल से वैदिक साहित्य के स्वाध्याय का सौभाग्य प्राप्त होने के कारण मैंने उस गहन सागर में अनेक बार गोते लगाए हैं... मेरा अपना पूर्ण विश्वास है कि यदि प्रयत्न किया जाये, तो भगवान् अरिष्टनेमि तक सभी तीर्थकरों के विषय में वैदिक साहित्य से सुंदर सामग्री उपलब्ध हो सकती है।” (दो शब्द) स्वामीजी ने अनेक उद्धरण दिए हैं; किंतु विस्तारभय के कारण यहाँ केवल उनका मत दे दिया गया है।

तीर्थकर और पुरातत्त्व:—जैन तीर्थकरों के संबंध में पुरातात्विक साक्ष्य की मांग की जाती है। इस विषय पर विद्वान् लेखक का ध्यान निम्न कुछ तथ्यों की ओर आकर्षित किया जाता है—

(1) हड़प्पा से प्राप्त सील क्र० DK 3505 देखने की कृपा करें। इस सील के नीचे लिखा है, “A nude terracota figure (front view)” यह मूर्ति खड़ी हुई अवस्था में है। जैन मूर्तिशास्त्र के अनुसार ‘कायोत्सर्ग मुद्रा’ में तीर्थकर हैं। उसके हाथ घुटनों तक हैं (आजानुलम्ब बाहु) हाथों के पंजे क्षतिग्रस्त हैं, फिर भी हाथ घुटनों तक आये स्पष्ट दिखते हैं। मूर्ति-निर्माण-संबंधी जैनैतर ग्रंथों में भी तीर्थकर-मूर्ति-निर्माण का यह लक्षण मिल जाएगा। मूर्ति के मस्तक का कुछ भाग टूटा हुआ है तथा मूर्ति नग्न है।

(2) भारतीय पुरातत्त्व विभाग के भूतपूर्व डायरेक्टर जनरल श्री टी०एन० रामचंद्रन् का लेख ‘Harappa and Jainism’ ग्यारह पृष्ठों का है। यह कुंदकुंद भारती, नई दिल्ली से प्रकाशित है। उन्होंने कला, पुरातत्त्व, ऋग्वेद आदि अनेक दृष्टियों से हड़प्पा से प्राप्त male torsos का गहन विवेचन किया है। ऋग्वेद की दो-तीन ऋचाओं के

अतिरिक्त शिशुनदेवों संबंधी दो ऋचायें उद्धृत की हैं, जिनमें से एक इसप्रकार है—

“स वाजं यातापदुष्यदा यत्तसवर्षाता परिषदत्सनिष्यन् ।

अनर्वा यच्छतदुरस्य वेदो ध्नच्छिशुनदेवाँ अभिवर्षसाभूत् ।।”

“On most auspicious path he (Indra) goes to battle. He toiled to win heaven's light, full fain to gain it. He seized the hundred-gated castles' treasure by craft, unchecked, slaying (in the affair) naked Gods (Sisna Devas) (विष्णुपुराण में 'नग्न' की व्याख्या इस प्रकार की गई है—समस्त वर्णों का संवरण (ढकनेवाला वस्त्र) वेदत्रयी ही है। इसलिए उसका त्याग कर देने पर पुरुष नग्न हो जाता है। तृतीय अंश, 17-5) He further says, “These two Riks flash before us the truth that we are perhaps recognizing in the Harappa statuette a full-fledged Jain Tirthankara in the characteristic pose of physical abandon (Kayotsarga) a pose which has been immortalized in the later day colossal statues of Jaina Tirthankaras and Siddhas such as at Sravanbelgola, Karkal, Yenur etc. One may wonder if a later day Jaina iconographic plastic pose such as Kayotsarga could have appeared as early as the Harappan or Mohen-jo-daro times (third millennium B.C.). Surely, the conceptions of absolute nudity and inner abandon of all physical consciousness for the realisation of the doctrine of Ahimsa can lead only to one pose. It is this pose that we find in Harappa in the statuette under description. There is thus a continuity and unity in this ideology and there are no other iconographic details in the statuette to confuse or lead us astray.”

(3) पुरातत्त्वविदों ने horned deity की चर्चा की है। उस सील क्र० 620 (1928-29 खंड) की समीकरण आचार्यश्री विद्यानंद जी ने पद्मासन ऋषभदेव, श्रद्धावनत भरत (जिनके नाम पर यह देश भारत कहलाता है), चिह्न बैल और सात अमात्यों से की है। किंतु यह मान्यता इसलिए अस्वीकृत कर दी जाती है कि अभी सिंधु-लिपि पढ़ी नहीं गई है। किंतु विद्वान् लेखक ने इसी 'प्राचीन भारत' पुस्तक के पृ० 66 पर मोहनजोदड़ो की एक सील छापी है, जिसका शीर्षक है “मोहनजोदड़ो से प्राप्त पशुपति की एक मुहर”। वे लिखते हैं, “यह सील (मृन्मुद्रा) देखते ही हमें पौराणिक पशुपति महादेव की छवि ध्यान में आ जाती है।” इस सील पर भी सिंधु-लिपि में कुछ लिखा है। शायद लेखक सिंधु-लिपि पढ़ने में सफल हो गए हैं। इसीलिए संभवतः मुहर के नीचे लिख दिया पशुपति की मुहर। यदि जैन किसी सील में अपना समीकरण बताते हैं, तो सिंधु-लिपि का प्रश्न उठाने का क्या आशय हो सकता है?

(4) शायद Achaebotany के आधार पर लेखक ने यह लिखा है कि 'नवपाषाण युग' (भारत में 7000 ई०पू०, पृ०38) में “नवपाषाण युग के कई स्थिरवासी अनाजों की खेती से

परिचित हो गए थे” (पृ०42) अर्थात् खेती करना सीख गए थे। किंतु एक परेशानी यह है कि अमेरिकन तो कहते हैं कि “गेहूँ की खेती करना सबसे पहले अमेरिका के लोगों ने शुरू की थी।” क्या हम उनका दावा मान लें? चाक्षुष मन्वन्तर की उपलब्धियों का क्या होगा। जैन-मान्यता तो यही है कि ऋषभदेव ने लोगों को खेती करना सिखाया था।

(5) रूस में 20-25 फुट लंबे मानव-अवशेष भी मिल गए हैं। ये तीर्थकरों के शरीर-संबंधी कथनों की सत्यता की ओर संकेत करते प्रतीत होते हैं। संभव है और भी विस्तृत अवशेष किसी दिन प्राप्त हो जायें।

(6) सन् 1920 तक वैदिक-सभ्यता को पाश्चात्यों ने ‘सबसे प्राचीन सभ्यता’ बतलाया था; किंतु सिंधु-सभ्यता ने पुरातत्त्वविदों की धारणा ही बदल दी।

उपर्युक्त तथ्यों से यही बात समझ में आती है कि पुरातात्विक साक्ष्य बदलते रहते हैं और कोई भी पुरातत्त्वविद् या इतिहासकार शायद यह नहीं कह सकता कि वह अंतिम परिणामों तक पहुँच गया है और उनके कारण परंपरा से चली आई जातीय स्मृति Racial Memory को मिथ्या या फेंक देने लायक घोषित करना उचित नहीं जान पड़ता। इस विषय में UNESCO की सलाह शायद सभी को जँचेगी। वह है—

“The terms pre-history and archaeology are frequently confused. it should be borne in mind, however, while pre-history is a period of the history of mankind for which there are no written sources, archaeology is a method of research. It studies the past taking as its basis the examination of the material remains left by the people of the past. ARCHAEOLOGY IS THE MAIN BUT NOT THE SOLE DISCIPLINE THAT CAN INFORM US ABOUT PRE-HISTORY.” (Introduction, History of humanity, Vol.1, Prehistory and Beginnings of Civilization, Ed. S.J. Laser, Unesco, 1994) (The present author is responsible for the capital letters).

पंद्रह तीर्थकरों की ऐतिहासिकता नितांत संदिग्ध:—लेखक महोदय ने यह लिखा है कि बिहार में उत्पन्न पंद्रह तीर्थकरों की ऐतिहासिकता नितांत संदिग्ध है; क्योंकि वे पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में उत्पन्न हुए थे और “मध्य गंगा मैदान का कोई भी भाग ईसा पूर्व छठी सदी से पहले आबाद नहीं हुआ था।” इस संबंध में कुछ तथ्य इसप्रकार हैं—

(1) लेखक ने महावीर को अंतिम तीर्थकर (भूल से) बताते हुए जैनधर्म का उद्भव ईसापूर्व नौवीं सदी में बताया है। यह समय तो पार्श्वनाथ का है, जिनका निर्वाण महावीर-निर्वाण (527 B.C.) से 250 वर्ष पूर्व हुआ था। उनकी आयु 100 वर्ष की थी। इसप्रकार उनका जन्म ईसापूर्व 877 में हुआ था। वे बनारस में जन्मे थे। उनके पिता राजा थे। उस समय वहाँ आबादी अवश्य रही होगी। यह तथ्य लेखक भूल गए और लिख दिया कि ईसापूर्व छठी सदी में उधर आबादी ही नहीं थी। पार्श्वनाथ का अस्तित्व तो उन्होंने इसी लेख में स्वीकार किया है। वे यह भी जानते होंगे कि बनारस की गणना किस प्रदेश में

की जाती है।

(2) 'शतपथ ब्राह्मण' आदि वैदिक ग्रंथों से ज्ञात होता है कि वहाँ ऐसी आबादी थी, जिसका ब्राह्मणीकरण 900 ई०पू० तक नहीं हो पाया था। एक उद्धरण प्रस्तुत है— "एतरेय आरण्यक (2, 1-1-5) में बंग, वगध और चेरपादों को वैदिक धर्म का विरोधी बतलाया है। इनमें से 'बंग' तो निस्संदेह बंगाल के अधिवासी हैं, 'वगध' अशुद्ध प्रतीत होता है, संभवतया 'मगध' होना चाहिए। 'चेरपाद' बिहार और मध्यप्रदेश के 'चेर' लोग जान पड़ते हैं। ...डॉ० भाण्डारकर ने (भा० इं० पत्रिका, जिल्द 12, पृष्ठ 105) में लिखा है कि ब्राह्मणकाल तक अर्थात् ईसा पूर्व नौवीं सदी के लगभग तक पूर्वीय भारत के चार समूह मगध, पुंड्र, बंग और चेरपाद आर्यसीमा के अंतर्गत नहीं आए थे।"

—(पं० कैलाशचंद्र शास्त्री, जैन-साहित्य का इतिहास-पूर्व पीठिका, पृ० 212)।

(3) पटना विश्वविद्यालय के डॉ० अरुण कुमार सिंह ने यह मत व्यक्त किया है कि "The prehistoric remains in the form of stone tools and implements belonging to paleolithic, mesolithic and neolithic phases have come from localities located within the district of Gaya." इन औजारों का उपयोग करनेवाली आबादी भी सुदूर-सुदूर अतीत में रही होगी।

(4) श्री राम अयोध्या में जन्मे थे। यह नगरी 'कोसल' में मानी जाती है। लेकिन एक शंका यह होती है कि अयोध्या तो वाराणसी, गया से बहुत दूर नहीं है। क्या उनकी लीला मध्यगंगा के जनशून्य प्रदेश में हुई थी या नहीं। इतनी महान आत्मा केवल कोसल में या केवल मगध से बाहर के प्रदेश तक ही सीमित रही होगी —ऐसा विश्वास नहीं होता है।

हिंदू-पुराणों में आयु-संबंधी कथन:—विद्वान् लेखक ने तीर्थंकर का जिक्र करते हुए लिखा है कि उनसे संबंधित "मिथक-कथा जैन-संप्रदाय की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए गढ़ ली गई है।" जरा देखें कि जैन लोग तो मिथ्याकथन के दोषी हैं ही, हिंदू कितने वास्तविकतावादी हैं और इतिहाससम्मत कितना कथन अपने देवताओं या महापुरुषों के संबंध में करते हैं कि इस पुस्तक के इतिहासज्ञ विद्वान् संतुष्ट हो सकें। नीचे कुछ तथ्य दिए जाते हैं—

(1) स्वायंभुव मनु के पुत्र प्रियव्रत ने ग्यारह अरब वर्षों तक राज्य किया था (जगतीपतिर्जगतीमर्बुदान्येकादश-परिवत्सराणामव्याहताखिल... भागवत, पंचम स्कंध, अध्याय 1, श्लोक 29)। तथा आग्नीध्र ने एक करोड़ वर्ष तक राज्य किया।

(2) ऋषभपुत्र भरत ने एक करोड़ वर्ष तक का जीवन भगवद्भक्ति आदि में बिताया और वे पुलहाश्रम चले गए (एवं वर्षायुतसहस्रपर्यन्तावसित कर्मनिर्वाणावसरोऽभुज्यमानं... भागवत, 5-7-8) इन पंक्तियों का हिंदी अनुवाद गोरखपुर संस्करण में इसप्रकार दिया गया है, " इसप्रकार एक करोड़ वर्ष निकल जाने पर राज्यभोग का प्रारंभ क्षीण हुआ जानकर...।"

(3) देवासुर-संग्राम में कूर्म (कछुए) की पीठ का विस्तार 'लक्ष योजन' था। (8,00,000 miles as given by the English version). (book eight, seventh discourse, stanza 9)

(4) परशुराम ने जिस सहस्रार्जुन का वध किया था, उसने 85,000 (मूल-पंचाशीतिवषासहस्राणि) वर्षों तक राज्य किया था। (विष्णुपुराण, 4-11-18-20)

(5) श्री राम ने 11,000 वर्षों तक (एकदशाब्दसहस्र) राज्य किया। (विष्णु, 4.4.99) सीता के पृथ्वीलोक में चले जाने पर श्री राम ने ब्रह्मचर्य धारण किया और 13,000 वर्षों तक अग्निहोत्र यज्ञ किया (भागवत, 9-11-18)।

(6) प्रो० बलदेव उपाध्याय ने 'पुराण विमर्श' में 'वन पर्व' के 12वें अध्याय का संदर्भ देते हुए लिखा है कि अर्जुन ने कौरवों के दुष्कृत्यों से क्षुब्ध श्रीकृष्ण को यह स्मरण दिलाया कि उन्होंने पूर्व जन्म में पुष्कर में 11,000 वर्षों तक केवल जल का भक्षण कर तपस्या की थी। (पृ०43)

(7) शकुंतला-पुत्र भरत ने 27,000 वर्षों तक राज्य किया। (भगवत, 9-20-32 हिंदी अनुवाद "भरत ने सत्ताईस हजार वर्षों तक समस्त दिशाओं का एकच्छत्र राज्य किया")।

क्या ये आंकड़े हिंदूधर्म की प्राचीनता और अद्भुतता सिद्ध करने के लिए वर्णित नहीं हैं—गढ़ नहीं लिए गए हैं? विद्वान् लेखक को पहले अपना घर भी देख लेना चाहिए।

राम-कृष्ण-संबंधी साक्ष्य:—संभवतः इतिहास के विशिष्ट विद्वान् जैनों से तीर्थंकरों का पुरातात्विक साक्ष्य चाहते हैं। जैन लोग भी यह जानना चाहते हैं कि उनके पास राम, कृष्ण, शिव के वास्तविक (real) अस्तित्व के अकाट्य (incontrovertible) प्रमाण क्या हैं?

शायद उनका उत्तर होगा कि "रामायण, महाभारत और शिवपुराण तथा आस्था।" यदि ऐसी बात है, तो जैन भी मौखिक और लिखित परंपरा से चले आ रहे तीर्थंकर-चरित्रों के वर्णनों में विश्वास करते हैं। उनके प्रति 'गढ़ लिए गए' जैसे शब्दों का प्रयोग, वह भी सरकारी संस्था के माध्यम से करने का आपको क्या अधिकार है? भारत के संविधान में सबको अपने विश्वास के अनुसार अपने देवता को मानने का अधिकार या स्वतंत्रता दी गई है। न्यायालय भी किसी धर्म के माननेवालों की भावनाओं, विश्वासों को ठेस पहुँचाने की इजाजत नहीं देता। विद्वान् लेखक अधिक से अधिक यह कह सकते थे कि जैन समाज 24 तीर्थंकरों को मानता है, जिनमें प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव सबसे प्रमुख हैं। वे हिंदू-पुराणों तथा बौद्ध-साहित्य में भी स्मृत हैं। अंत में तीन तीर्थंकर—अरिष्टनेमि (नेमिनाथ), पार्श्वनाथ और ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध हैं।

संतुलित इतिहास-दृष्टि का एक उदाहरण प्रस्तुत है, "Almost all Tirthankaras have been subjects of many 'Carita' books and the Puran books in Jain literature... Nobody can believe that such a number of books written with the avowed object of giving truth to the believers may have been

related to only unhistorical fictitious beings! Making reasonable allowance for the glorification and exaggeration which each religion attaches to its heroes, we have reason to place our credence in the historical authenticity of 24 Tirthankaras. (p.13, B.C. Bhattacharya, Jain Iconography)

जैन-संप्रदायः—लेखक ने 'जैनधर्म' के स्थान पर 'जैन-संप्रदाय' का प्रयोग किया है। 'संप्रदाय' शब्द संकीर्णता का बोधक हो चला है, जैसे सांप्रदायिक ताकतें। इस पाठ में बौद्ध धर्म के लिए केवल एक ही बार संप्रदाय शब्द का प्रयोग है; किंतु उसके बाद अनेक बार बौद्धधर्म का प्रयोग किया है। जैनधर्म को संप्रदाय लिखने में लब्ध-प्रतिष्ठित लेखकों की उस परंपरा को गलत ठहराना है, जो सदा ही जैनधर्म शब्द का प्रयोग करती आ रही है। जैनधर्म कोई Sect नहीं है, बल्कि एक Religion है।

आचार्य या तीर्थकरः—तीर्थकर को आचार्य कहना गलत है। जैनधर्म में आचार्य का स्थान तीसरा है। आचार्य आज भी होते हैं, तीर्थकर नहीं। जैन 'णमोकार मंत्र' इसप्रकार है—“णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।” प्राकृत 'आइरिय' का संस्कृत रूप 'आचार्य' होता है। किसी धर्म का विवेचन उस धर्म की शब्दावली में होना चाहिए। हम 'अल्लाह' को 'संत' ऋषि या 'महात्मा' नहीं लिख सकते, विशेषकर उस समय जब कि उस धर्म का परिचय देना अभीष्ट हो।

जैनधर्म की स्थापनाः—ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव जैनधर्म के संस्थापक हैं। यदि यह नहीं लिखा जाए, तो 'भागवत' का कथन असत्य है—यह घोषणा करनी होगी।

महावीर का गाँवः—लेखक ने लिखा है कि महावीर का जन्म किसी गाँव में हुआ था। विद्वान् इतिहासज्ञ यह जानते होंगे कि महावीर भारत के सबसे प्राचीन उस वैशाली गणतंत्र तथा उसके संथागार के पास स्थित कुंडग्राम में जन्म थे, जो कि वैशाली का एक उपनगर था। यदि संदेह हो तो श्री जगदीशचंद्र माथुर, राहुल सांकृत्यायन के लेख और पटना विश्वविद्यालय के प्रो० योगेन्द्र मिश्र की पुस्तक 'वैशाली' तथा डॉ० राजेंद्रप्रसाद द्वारा लिखित प्राकृत और हिंदी में वैशाली में स्थापित शिलालेख पढ़ लें। उनका यह भ्रम दूर हो जाएगा। भगवान् महावीर सामान्य व्यक्ति नहीं थे। उनके पिता राजा कहलाते थे। लेखक ने "अहं राजा" पढ़ा होगा। उनकी माता वैशाली गणतंत्र के प्रधान की पुत्री थी।

सन्यासीः—इस लेख में तीर्थकर के लिए 'सन्यासी' शब्द का प्रयोग उचित नहीं है। जैन साधु 'मुनि' कहलाते हैं, फिर तीर्थकर तो और भी पूज्य हैं। ऋषि-मुनि एक युग्म है। अंतर समझना चाहें तो प्रो० बलदेव उपाध्याय, मंगलदेव शास्त्री, डॉ० गोविंदचंद्र पांडेय, भरतसिंह उपाध्याय आदि विद्वानों के ग्रंथ देख लें।

भटकते रहेंः—यदि कोई यह कहे कि विवेकानंद भारत में भटकते रहे या राम

अथवा कृष्ण भटकते रहे, तो बहुसंख्य लोग नाराज हो जायेंगे। महात्मा गौतम बुद्ध और महावीर का विहार होता था। उनके प्रति आदर दर्शाने के लिए मगध का नाम बदलकर बिहार कर दिया गया—ऐसा विद्वानों का कथन है। महावीर कोई राह नहीं भूले थे जिससे यह कहा जाये कि वे “भटकते रहे।”

वस्त्रः—यह कथन भी संभव नहीं जान पड़ता कि ‘महावीर ने बारह वर्षों तक वस्त्र नहीं बदले।’ मूलसंघ की परंपरा यह मानती है कि महावीर दीक्षा लेने के बाद नग्न ही रहे।

पशु की हत्या पर फांसीः—विशाल जैन-साहित्य के किसी एक कोने से विद्वान् लेखक कोई उदाहरण ढूँढ लाये हों, किंतु यह भी संभवतः सत्य है कि सनकी राजा हर युग में और हर जाति में हुए हैं। पुष्यमित्र को ही लें। उसने मौर्य राज्य के सिंहासन पर बैठते ही घोषणा कर दी थी कि “जो मुझे श्रमण का सिर काटकर लाकर देना, उसे मैं सौ दीनार दूँगा।” श्रमणों का अपराध? वे उसके धर्म को नहीं मानते थे। उसकी तो पूजा होने लगी थी (पुष्यमित्र यजामः)। दुष्यन्त-पुत्र भरत को ही लें। उसकी तीन रानियाँ बताई जाती हैं। उनके पुत्र उत्पन्न हुए, लेकिन रानियों ने उन पुत्रों को इसलिए मार डाला कि वे भरत के अनुकूल नहीं थे—ऐसा ‘भागवत’ में लिखा है। वह निस्संतान ही रहा। ऐसे राजा के नाम पर भारत का नाम भारतवर्ष पड़ा—यह प्रचारित किया जाता है। शायद इसलिए कि ऋषभ-पुत्र भरत के नाम पर भारत कहें (बहुसंख्य वैदिक पुराणों ने कहा भी है), तो जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। क्या ये राजा न्यायी थे?

भारत सरकार तो पेड़-पौधों, पक्षियों तथा खूंखार पशुओं जैसे शेर की रक्षा में शायद उक्त राजा से भी आगे है। यदि मैं अपने घर के सामने के पेड़ को उद्यान विभाग की अनुमति के बिना काट डालूँ, तो मैं दंडित किया जाऊँगा।

त्रिरत्नः—जैनधर्म के ‘त्रिरत्न’ के सही नाम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं। दर्शन का परिचय देते समय उस धर्म के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया जाता है, न कि पर्याय आदि के द्वारा उसका परिचय कराया जाता है। उन शब्दों का विशिष्ट अर्थ होता है।

युद्ध और कृषिः—तीर्थंकर ऋषभदेव ने असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प आदि षट्कर्मों का उपदेश दिया था—यह बात जैन लोग हजारों वर्षों से प्रतिपादित करते रहे हैं। सबसे पहला कर्म ‘असिकर्म’ था। कृषि का प्रारंभ भी ऋषभ की देन है। जैनधर्म में कृषि आदि जीविका कार्यों में होने वाली हिंसा ‘उद्योगी हिंसा’ कहलाती है। वह गृहस्थों के लिए क्षम्य है। ‘संकल्पी हिंसा’ का निषेध किया गया है। अपने आश्रितों, धर्म या देश की रक्षा के लिए की जानेवाली हिंसा ‘विरोधी हिंसा’ है। गृहस्थ और मुनि द्वारा पालन की जानेवाली हिंसा का बड़ा सूक्ष्म विवेचन जैनधर्म में है।

इतिहास साक्षी है कि जैनधर्मपालक सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य ने देश की रक्षा की थी और

यूनानियों को मार भगाया था। सम्राट् खारवेल ने विजययात्रा की थी और श्रमणों पर अत्याचार करनेवाले पुष्पमित्र पर दो बार आक्रमण कर उसे सबक सिखाया था। उसके शिलालेख में मगध पर आक्रमण का विवरण उपलब्ध है। खेद है कि जैनधर्म की अहिंसा संकल्पना को लेखक महोदय भलीप्रकार समझ नहीं पाये।

महावीर के अनुयायी:—लेखक ने महावीर के संघ की (जिसमें मुनि, आर्यिका, मोक्षमार्ग के इच्छुक श्रावक और श्राविका होते हैं और वे साधनापथ के व्रत क्रमशः ग्रहण करते हैं) श्रावक-संख्या को अनुयायियों की संख्या बताकर अच्छा नहीं किया। तत्कालीन सभी जैन-गृहस्थों ने महावीर के साथ भ्रमण नहीं किया था। आज भी मुनिसंघ के साथ बहुत कम लोग भ्रमण करते हैं। परंपरा आज भी जीवित है।

मूर्तिपूजा और जैन:—विद्वान् लेखक P.V. Kane : History of Dharmashstra नामक पुस्तक कृपया देखें। उसमें उन्हें यह उल्लेख मिल जाएगा कि हिंदुओं ने मूर्तिपूजा जैनों से सीखी। वैदिकजन तो आज भी आहुति देते हैं।

मठों को दान:—विद्वान् लेखक क्या यह कह सकते हैं कि हिंदू मठों को राजाओं से दान नहीं मिलता था। भक्ति-आंदोलन के कारण जब जैनों पर अत्याचार हुए, तब जैन मूर्तियों, मंदिरों और शास्त्रों की रक्षा के लिए मठों की परंपरा चली। तमिल में लिखित 'पेरियपुराणम्' में उन्हें यह लिखा मिल जाएगा कि जैनों के ग्रंथ तो पानी में डूब गए और शैव-ग्रंथ तैर गए। तमिलनाडु में जैनों पर जो अत्याचार एक ही दिन में 8000 मुनियों के प्राण लेकर किए गए; उसके fanaticism की निंदा प्रो० नीलकंठ शास्त्री ने अपने 'दक्षिण भारत के इतिहास' में की है। जैनमठ जिनधर्मानुयायियों के दान पर ही मुख्यरूप से चलते हैं। कुछ जैन राजाओं ने अतीत में कुछ मठों को दान दे भी दिया, तो इसमें क्या आश्चर्य? हिंदू मठ भी तो दान लेते रहे हैं।

चंद्रगुप्त से पहले दक्षिण में जैनधर्म:—विद्वान् लेखक का यह कथन सत्य नहीं है कि चंद्रगुप्त मौर्य से पहले दक्षिण भारत में जैनधर्म का प्रवेश नहीं हुआ था। उनकी जानकारी के लिए दक्षिण भारत में जैनधर्म-संबंधी कुछ मोटी बातें यहाँ दी जाती हैं—

- (1) यदि 'कर्नाटक गजेटियर' उठाकर देखें, तो यह उल्लेख मिलेगा कि हेमांगद देश के राजा जीवंधर ने महावीर से मुनिदीक्षा ली थी। यह घटना चंद्रगुप्त मौर्य से पहले की है।
- (2) बौद्धग्रंथ 'महावंसो' में उल्लेख है कि "श्रीलंका के राजा पांडुकाभय ने निर्ग्रन्थों के लिए एक मंदिर और एक भवन बनवाया था।" यह राजा चंद्रगुप्त मौर्य का समकालीन था। श्रीलंका में जैनधर्म पांडुकाभय से कम से कम एक सौ वर्ष पूर्व पहुँचा हो, तो भी ईसापूर्व पाँचवी सदी में जैनधर्म की विद्यमानता वहाँ सिद्ध होती है।

(3) केरल सरकार के गजेटियर में जैनधर्म के प्रसंग में Barnett का यह उल्लिखित किया गया है कि All civilization in the south belongs to the Jains.

(4) कन्याकुमारी हिस्टोरिकल रिसर्च सोसायटी के सचिव डॉ० पद्मनाभन ने लिखा है, “Presumably the Jain monks who had been the ceylon migrated through Kanyakumari to the south of which was a large mass of land, subsequently swallowed by sea, the fact that Jain doctrines do not allow their monks to cross the sea must be remembered.”

जैनधर्म की देन

इस विषय पर लेखक ने एक शब्द भी नहीं लिखा है; हालांकि ‘बौद्ध धर्म की उपयोगिता’ शीर्षक से उस धर्म की देन के बारे में लिखा है। वे शायद यह जानते होंगे कि जैनधर्म बौद्धधर्म से प्राचीन है और उसकी कुछ देन तो होगी ही। उन्हें याद दिलाया जाता है कि जैन तीर्थंकरों, मुनियों, श्रावकों आदि के उपदेश के कारण इस देश में यज्ञों में पशुओं की बलि का लगभग अंत हो गया। बौद्ध तो मांसभक्षण में विश्वास करते हैं, जिसके कारण भी वह धर्म भारत से बाहर फैल सका। इस कारण उसे यज्ञों में पशुबलि बंद होने का संपूर्ण श्रेय देना इतिहास के साथ अन्याय होगा। दूसरे, जैनधर्म के इस सिद्धांत का कि ‘मनुष्य कर्म के कारण ऊँचा या नीचा होता है, न कि जन्म के कारण’ —इसका ऐसा असर हुआ कि यह स्वर कुछ हिंदू-ग्रंथों में भी स्थान पा गया। तीसरे यदि वे ‘याज्ञवल्क्य स्मृति’ पढ़ें, तो पाएंगे कि ब्राह्मणों ने आत्मविद्या का ज्ञान मिथिला के अजैन लोगों से प्राप्त किया। बहुत-सी अन्य बातें भी हैं। यहाँ संक्षेप में संकेत किया गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि ‘प्राचीन भारत’ पुस्तक में जैनधर्म-संबंधी जो कथन किया गया है, वह स्वस्थ चिंतन का परिणाम नहीं है। उससे विद्यार्थियों के मन में अनेक भ्रान्तियाँ रह जाएंगी। इसके अतिरिक्त यह पाठ जैन-धर्मावलंबियों की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँचानेवाला है —इसमें संदेह की कोई गुंजाइश नहीं है। NCERT जैसी प्रतिष्ठित संस्था को इसे तुरंत संशोधित कराना चाहिए और जो ‘संशोधित पाठ’ बने उसको किसी जैन विद्वान् को दिखा लेना चाहिए। ❖❖

उत्सूत्र भाषी को दीक्षाच्छेद

‘जिनसूत्रपरिज्ञानादुत्सूत्रं वर्णयेत्सुनः ।

स्वच्छन्दस्य भवेत्तस्यमूलदण्डो विधानतः ।।’

—(आचार्य नरेन्द्रसेन, सिद्धान्तसारः, 10/103)

अर्थः—जिनेन्द्र-उक्त आगम-सूत्र का ज्ञान न होने से जो उत्सूत्र-प्रतिपादन करता है, उस स्वच्छन्द मुनि (आचार्य) को शास्त्रोक्त-विधि से मूलदण्ड (दीक्षाच्छेद) देना चाहिये।

स्वाध्याय

—आचार्य विद्यानन्द मुनिराज

मनुष्य-जीवन पशु-जीवन से श्रेष्ठ है। क्योंकि पशु और मनुष्य के विवेक में अन्तर है। पशु का विवेक आहार, निद्रा, भय, मैथुन तक सीमित है; किन्तु मनुष्य का विवेक इससे ऊपर उठकर चिन्तन की असीमता को मापता है। उसकी जिज्ञासा से दर्शनशास्त्रों का जन्म होता है, उसके ज्ञान से स्व-पर की भेदविद्या का प्रादुर्भाव होता है। वह इह और अपरन्त लोकों के विषय में आत्ममन्थन की छाया में नवीन उपलब्धियों से मानव-समाज के बुद्धि, चिन्तन और चेतना के धरातल का नव-निर्माण करता है। मैं कौन हूँ? जन्म-मरण क्या है? संसार से मेरा क्या सम्बन्ध है? —इत्यादि दार्शनिक प्रश्नावली के ऊहापोह मनुष्य में ही हो सकते हैं। चिन्तन की सहज धारा का उदय सभी मानवों में होता है; किन्तु कुछ लोग ही इस अनाहत-ध्वनि को सुन पाते हैं। सुननेवालों में भी कुछ प्रतिशत व्यक्ति ही गम्भीरता से विचार कर पाते हैं और उन विचारकों में बहुत थोड़े लोग होते हैं, जो अपने चिन्तन की परिणति से चारित्र्य को कृतार्थ करते हैं। क्योंकि 'बुद्धेः फलं ह्यात्महितप्रवृत्तिः ।'

आत्महित का ज्ञान चिन्तनशील मनीषियों ने ग्रन्थभण्डारों के रूप में अपनी उत्तराधिकारिणी मानव-पीढ़ी को सौंपा है। एक व्यक्ति किसी एक विषय पर जितना दे नहीं सकता, उतना अपरिमित ज्ञान हमारे कृपालु पूर्वजों ने पूर्ववर्ती विचारकों ने हमारे लिए छोड़ा है। जैसे जलकणों से कुम्भ भर जाता है, उसीप्रकार अनेक दार्शनिकों, चिन्तनशीलों, विचारकों एवं विद्वानों के द्वारा प्रतिपादित अनुभूत तथ्यों की एक-एक शब्दराशि से, भावसम्पदा से, अर्थविशिष्टता से ग्रन्थरूप में जन्म देकर ज्ञान हमारे कृपालु पूर्वजों ने, पूर्ववर्ती विचारकों ने हमारे लिए छोड़ा है और आत्मदर्शन के मार्ग को प्रशस्त किया है। उन सारस्वत महर्षियों के अपार ऋणानुबन्ध से हम उन्मृण नहीं हो सकते। जब किसी ग्रन्थ को पढ़ते हैं, उसे अल्पकाल में ही पढ़ लेते हैं; किन्तु उसकी एक-एक शब्द योजना में पंक्ति-लेखन में, विषय-प्रतिपादन में और ग्रन्थ-परियोजन की प्रतिपादन-विधि में मूललेखक को, विचारक को कितने दिन, मास, वर्ष लगे होंगे, कितने काल की अधीत विद्या का निचोड़ उसने उसमें निहित किया होगा; —इसे परखने का तुलादण्ड हमारे पास क्या है? तथापि यदि हमने किसी की रचना के एक शब्द को, आधे सूत्र को और एक पंक्ति श्लोक को भी यथावत् समझने का प्रयास करने में अपनी आत्मिक तन्मयता लगायी है, तो निस्सन्देह वह लेखक स्वर्गस्थ होकर भी कृतकृत्य हो उठेगा। लेखक के श्रम को उस पर अनुशीलन करनेवाले अनुवाचक ही सफल कर सकते हैं।

जब तक शब्द प्रयुक्त होकर साहित्य में नहीं उतरते और जब तक कोई कृति सहृदयों के हृदय को आकर्षित नहीं कर लेती, तब तक शब्द का जन्म (निष्पन्नता) और कर्ता का कृतित्व कुमार ही है। श्रेष्ठ कृतियों के अध्ययन से हमें विचारों में नवीन शक्ति का उन्मेष होता हुआ प्रतीत होता है। नयी दिशा, नये विचार, नये शोध और वैदुष्य के अवसर निरन्तर स्वाध्याय करनेवालों को प्राप्त होते हैं।

स्वाध्याय करते रहने से मनुष्य मेधावी होता है। ज्ञान की उपासना का माध्यम स्वाध्याय ही है। स्वाध्यायशील व्यक्ति उन विशिष्ट रचनाओं के अनुशीलन से अपने व्यक्तित्व में विशालता को समाविष्ट पाता है। वह रचनाओं के ही नहीं, अपितु उन-उन रचनाकारों के सम्पर्क में भी आता है, जिनकी पुस्तकें पढ़ता होता है; क्योंकि व्यक्ति अपने चिन्तन के परिणामों को ही पुस्तक में निबद्ध करता है। कौन कैसा है? यह उसके द्वारा निर्मित साहित्य को पढ़कर सहज ही जाना जा सकता है। स्वाध्यायशील व्यक्ति की विचारशक्ति और चिन्तनधारा केन्द्रित हो जाती है। मन, जो निरन्तर भटकने का आदी है, स्वाध्याय में लगा देने से स्थिर होने लगता है, और मन की स्थिरता आत्मोपलब्धि में परम सहायक होती है। एतावता स्वाध्याय के सुदूर परिणाम आत्मा को उत्कर्ष प्रदान करते हैं।

पुस्तकालयों, व्यक्तिगत संग्रहालयों, ग्रन्थ-भण्डारों को दीमक लग रही है। नवयुवकों का जीवन स्वाध्याय-पराङ्मुख हो चला है। जीवन रात-दिन यन्त्र के समान जीविकोपार्जन की चक्की में पिस रहा है। स्वाध्याय की परिस्थितियाँ दुर्लभ हो गई हैं और बदलती परिस्थितियों के साथ मनुष्य स्वयं भी स्वाध्याय के प्रति विरक्त हो चला है। उसका कार्यालयों से बचा हुआ समय सिनेमा, रेडियो, ताश के पत्तों और अन्य सस्ते मनोरंजनों में चला जाता है। 'स्वाध्याय' शब्द की गरिमा के अनजाने लोग विचारकों की रत्न-सम्पदा समान ग्रन्थमाला से कोई लाभ नहीं उठा पाते।

स्वाध्यायशील न रहने से मन में उदार सदगुणों की पूँजी जमा नहीं होती, शरीर को भोजनरूपी खुराक (अन्नमय आहार) तो मिल जाता है; किन्तु मस्तिष्क भूखा रहता है। मानव केवल शरीर नहीं है, वह अपने मस्तिष्क की शक्ति से ही महान् है। अस्वाध्यायी इस महिमाय महत्त्व के अवसर से वंचित ही रह जाता है। स्वाध्याय न करने के दुष्परिणाम से ही कुछ लोग जो आयु में प्रौढ़ होते हैं, विचारों में बालक देखे जाते हैं। उनके विचार कच्ची उम्रवालों के समान अपक्व होते हैं और इस अपरिपक्वता की छाया उनके सभी जीवन-व्यवहारों में दिखायी देती है। जो मनुष्य चलता रहता है, उसके पास पाप नहीं आते। स्वाध्याय के माध्यम से व्यक्ति परमात्मा और परलोक से अनायास सम्पर्क स्थापित कर लेता है। स्वाध्याय अभ्यन्तर-चक्षुओं के लिए अंजनशलाका है। दिव्यदृष्टि का वरदान स्वाध्याय से ही प्राप्त किया जा सकता है। जीवन में उन्नति प्राप्त करनेवाले नियमित स्वाध्यायी थे।

एक बार एक महाशय को लोकमान्य तिलक की सेवा में बैठना पड़ा। वे प्रातःकाल से ही ग्रन्थों के विविध सन्दर्भ-स्वाध्याय में लगे थे और इसप्रकार दोपहर हो गयी। उठकर उन्होंने स्नान किया और भोजन की थाली पर बैठ गये। आगन्तुक ने पूछा—“क्या आप सन्ध्या नहीं करते?” तिलक महाशय ने उत्तर दिया कि प्रातःकाल से अब तक मैं ‘सन्ध्या’ ही तो कर रहा था। वास्तव में स्वाध्याय से उपार्जित ज्ञान को यदि जीवन में नहीं उतारा गया, तो निरुद्देश्य ‘जलताड़न क्रिया’ से क्या लाभ? आँखों की ज्योति को मन्द किया, समय खोया और जीवन में पाया कुछ नहीं तो ‘स्वाध्याय’ का परिणाम क्या निकला? स्वाध्याय ‘स्व के अध्ययन’ के लिए है। संसार की नश्वर आकुलता से ऊपर उठने के लिए है। स्वाध्याय की थाली में परोसा हुआ अमृतमय समय जीवन को अमर बनाने में सहायक है। स्वाध्याय से आत्मिक तेज जागृत होता है। पुण्य की ओर प्रवृत्ति होती है। मोहनीय कर्म का क्षय करने की ओर विचार दौड़ते हैं। पूर्वजों ने जिस वास्तविक सम्पत्ति का उत्तराधिकार हमें सौंपा है, उस ‘वसीयतनामे’ को पढ़ना वैसे भी हमारा नैतिक कर्तव्य है।

‘श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनो मर्कटममुम्’ यह मन वानर के समान चंचल है, इसे जो शास्त्र-स्वाध्याय में एकाग्र कर देता है, वही धन्य है। स्वाध्याय से हेय और उपादेय का ज्ञान होता है। यदि वह न हो, तो ‘व्यर्थः श्रमः श्रुतौ’ अर्थात् शास्त्राध्ययन से होने वाला श्रम व्यर्थ है। स्वाध्याय करने पर भी मन में विचारमूढता है, ज्ञान पर आवरण है; तो कहना पड़ेगा कि उसने स्वाध्याय पर बैठकर भी वास्तव में स्वाध्याय नहीं किया। ‘पाणी कृतेन दीपेन किं कूपे पततां फलम्’ अर्थात् दीपक हाथ में लेकर चले ओर फिर भी कुयें में गिर पड़े, तो दीपग्रहण का श्रम व्यर्थ नहीं तो क्या है? शास्त्रों का स्वाध्याय अमोघ दीपक है। यह सूर्यप्रभा से भी बढ़कर है। जब सूर्य अस्त हो जाता है, तब मनुष्य दीपक से देखता है और जब दीपक का भी निर्वाण हो जाता है, तब सर्वत्र अन्धकार छा जाता है; किन्तु उस समय अधीतविध का स्वाध्याय ही आत्मभूति में आलोक आविर्भाव करता है। स्वाध्याय से उत्पन्न आलोक कभी तिमिरग्रस्त नहीं होता। अखण्ड ज्योतिर्मय यह ज्ञान स्वाध्याय-रसिकों के समीप ‘नन्दादीप’ बनकर उपस्थित रहता है। स्वाध्याय की उपासना निरन्तर करते रहना जीवन को नित्य नियमितरूप से माँजने के समान है। एक अच्छे स्वाध्यायी का कहना है कि “यदि मैं एक दिन नहीं पढ़ता हूँ, तो मुझे अपने आपमें एक विशेष प्रकार की रिक्तता का अनुभव होता है और यदि दो दिन स्वाध्याय नहीं करता हूँ, तो पास-पड़ोस के लोग जान जाते हैं और एक सप्ताह न पढ़ने पर सारा संसार जान लेता है।” वास्तव में यह ध्रुव सत्य है; क्योंकि जिसप्रकार उदर को अन्न देना दैनिक आवश्यकता है, उसी प्रकार मस्तिष्क को खुराक देना भी अनिवार्य है। शरीर और बुद्धि का समन्वय बना रहे इसके लिए दोनों प्रकार का आहार आवश्यक है।

‘अज्झयणमेव ज्ञाणं’ अध्ययन ही ध्यान है, सामयिक है —ऐसा आचार्य कुन्दकुन्द का

मत है। संसार में जितने उच्चकोटि के लेखक, वक्ता और विचारक हुए हैं, उनके सिरहाने पुस्तकों से बने हैं। विश्व के ज्ञान-विज्ञानरूपी तूलधार को उन्होंने अश्रान्तभाव से आँखों की तकली पर अटेरा है और उसके गुणमय गुच्छों से हृदय-मन्दिर को कोषागार का रूप दिया है। लेखन की अस्खलित सामर्थ्य को प्राप्त करनेवाले रात-दिन श्रेष्ठ साहित्य के स्वाध्याय में तन्मय रहते हैं। बड़े-बड़े अन्वेषक और दार्शनिक रात-दिन भूख-प्यास को भूलकर स्वाध्याय में लगे रहते हैं। स्वामी रामतीर्थ जब जापान गए, तो व्याख्यान-सभा में उपस्थित होने पर उन्हें पराजित करने की भावना से मंच-संयोजक ने बोर्ड पर शून्य (0) लिख दिया। भाषण के प्रथम क्षण स्वामी रामतीर्थ को पता चला कि उन्हें शून्य पर भाषण करना है। उन्होंने जापानियों की दृष्टि में शून्य प्रतीत होनेवाले उस अकिंचन विषय पर इतना विद्वत्तापूर्ण भाषण दिया कि श्रोता उनके वैदुष्य पर धन्य-धन्य और 'वाह-वाह' कह उठे। यह उनके विशाल भारतीय वाङ्मय के स्वाध्याय का ही फल था। काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने लिखा है कि "जो बहुज्ञ होता है, वही व्युत्पत्तिमान होता है। जिसको स्वाध्याय का व्यसन है वही बहुज्ञ हो सकता है।"

गोस्वामी तुलसीदास ने रामभक्ति के विषय में कहा कि "जैसे कामी पुरुष को नारी प्रिय लगती और लोभी को पैसा प्रिय लगता है; उसीप्रकार जिसे भक्ति प्रिय लगे, वह भगवान् को पा सकता है।" ठीक यही बात स्वाध्याय के लिये लागू होता है। जो व्यक्ति अध्ययन के लिये अपने को अन्य सभी ओर से एकाग्र कर लेता है वही स्वाध्याय-देवता के साक्षात्कार का लाभ उठाता है। पढ़नेवालों ने घर का लैम्प के अभाव में सड़कों पर लगे 'बल्बों' की रोशनी में ज्ञान की ज्योति को बढ़ाया है। जयपुर के प्रसिद्ध विद्वान् पं० हरिनारायण जी पुरोहित ने बाजार में किसी पठनीय पुस्तक को बिकते हुए देखा। उस समय उनके पास पैसे नहीं थे, अतः उन्होंने अपना कुर्ता उतारकर उस विक्रेता के पास गिरवी रख दिया और पुस्तक घर ले गये। — इसप्रकार उनका 'विद्याभूषण' नाम सार्थक हुआ। भारत के इतिहास में ऐसे अनेक स्वाध्यायपरायण व्यक्ति हो चुके हैं। विदेशों में अधिकांश व्यक्तियों के घरों में 'पुस्तकालय' हैं। वे अपनी आय का एक निश्चित अंश पुस्तक खरीदने में व्यय करते हैं। धर्म-ग्रन्थों का दैनिक पारायण करने वाले स्वाध्यायी आज भी भारत में वर्तमान हैं। वे धार्मिक स्वाध्याय किये बिना अन्न, जल ग्रहण नहीं करते।

'स्वाध्यायान् मा प्रमद' अर्थात् स्वाध्याय के विषय में प्रमाद मत करो। स्वाध्यायशील अपने गन्तव्य-मार्ग को स्वयं ढूँढ़ निकालते हैं। अज्ञान के हाथी पर स्वाध्याय का अंकुश है। पवित्रता के पत्तन में प्रवेश करने के लिए स्वाध्याय तोरणद्वार है। स्वाध्याय न करनेवाले अपनी योग्यता की डींग हाँकते हैं। किन्तु स्वाध्यायशील उसे पवित्र गोपनीय निधि मानकर आत्मोत्थान के लिए उसका उपयोग करते हैं। उनकी मौन आकृति पर स्वाध्याय के अक्षय वरदान मुसकाते रहते हैं। और जब वे बोलते हैं, तो साक्षात् वाग्देवी

उनके मुखमंच पर नर्तकी के समान अवतीर्ण होती है। स्वाध्याय के अक्षरों का प्रतिबिम्ब उनकी आँखों पर लिखा रहता है और ज्ञान की निर्मलधारा से स्नात उनकी वाड्माधुरी में सरस्वती के प्रवाह पवित्र होने के लिए नित्याभिलाषी होते हैं। एक महान् तत्त्वद्रष्टा, सफल राजनेता और उत्तम सन्त स्वाध्याय-विद्यालय का स्नातक ही हो सकता है। स्वाध्याय एकान्त का सखा है। सभी स्थानों में सहायक है। विद्वद्गोष्ठियों में उच्च-आसन प्रदान करानेवाला है। जैसे पैसा-पैसा डालने पर भी कोषवृद्धि होती है, उसीप्रकार बिन्दु-बिन्दु विचार संग्रह करने से पाण्डित्य की प्राप्ति होती है। शब्दों के अर्थ कोषों में नहीं, साहित्य की प्रयोगशालाओं में लिखे हैं। अनवरत स्वाध्याय करनेवाला शब्दों के सर्वतोमुखी अर्थों का ज्ञान प्राप्त करता है। स्वाध्याय करनेवाले की आँखों में समुद्रों की गहराई, पर्वत-शिखरों की ऊँचाई और आकाश की अनन्तता समायी होती है; वह जब चाहता है, तब बिना तैरे, बिना आरोहण-अवगाहन किये उनकी सीमाओं को बता सकते हैं। स्वाध्याय का तपःसाधना के रूप में सेवन करनेवाला उससे अभीष्ट लाभों को प्राप्त करता है।

यद्यपि स्वाध्याय से आत्माभिमुखता की ओर प्रवृत्ति होती है और उसे आत्मोपलब्धि का साधन भी कहा जाता है; तथापि प्रत्येक स्वाध्यायी निश्चितरूप से आत्मा को प्राप्त करता है—ऐसा नहीं माना जा सकता। जैसे 'पर्वतो बहिनमान् धूमवत्वात्। यो यो धूमवान् स स वह्निमान्'—पर्वत पर अग्नि है, क्योंकि वहाँ धुआँ उठ रहा है। 'जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य है; किंतु जहाँ-जहाँ अग्नि है, वहाँ-वहाँ धूम है—यह सर्वथा सत्य नहीं। क्योंकि निर्धूम पावक में धूम नहीं होता।' अतः यह सम्भव है कि स्वाध्यायादि द्वारा आत्मा का साक्षात्कार किया जा सके, परन्तु निश्चय ही स्वाध्याय आत्मोपलब्धि का कारण होगा, यह नहीं कहा जा सकता। प्रत्युत अनुभवी व्यक्तियों ने तो यहाँ तक कह दिया कि 'शास्त्रों की उस अपार शब्दराशि को पढ़ने से क्या शिवपुर मिलता है? अरे ! तालु को सुखा देनेवाले उस शुष्क पाठ से क्या? एक ही अक्षर को स्वपर भेद-विज्ञान बुद्धि से पढ़, जिससे मोक्ष प्राप्ति सुलभ हो।'।

“बहुयइं पठियइं मूढ पर तालु सुक्कइ जेण।

एँक्कुजि अक्खर तं पठहु शिवपुर गम्मइ जेण ॥”

एक दक्षिण भारतीय कवि ने भी लिखा है—

“हलवु ओदिदरेनायतु गिरिय सुत्तिदरेनायतु,

पिरिद लांछन तोहरेनायतु, निजपरमात्मन् ।

ध्यानवनरियदे नरिक्कुमि बलली सत्तंते ॥”

—(रत्नाकर कन्नड कवि)

अर्थः—बहुत अध्ययन करने, तीर्थक्षेत्र (पर्वतादि) की प्रदक्षिणा करने तथा धर्म विशेष के चिह्न धारण करने से क्या लाभ? यदि स्वपरमात्मभाव का ध्यान नहीं किया, तो उसके अभाव में ये बाह्य रूपक वृक के अरण्यरोदन के समान ही हैं।

“सर्वेभ्यो यद्व्रतं मूलं ‘स्वाध्यायः’ परमं तपः ।
यतः सर्वव्रतानां हि स्वाध्यायो मूलमादितः ॥
स्वाध्यायाज्जायते ज्ञानतं ज्ञानात्तत्त्वार्थ संग्रहः ।
तत्त्वार्थसंग्रहादेव श्रद्धानं तत्त्वगोचरम् ॥
तन्मध्यैकगतं पूतं तदाराधनलक्षणम् ।
चारित्रं जायते तस्मिन्स्त्रीमूलमयं मतम् ॥”

—(सिद्धान्तसार, 11/20-22)

समस्त व्रतों का मूलव्रत ‘स्वाध्याय’ है। यह परम तप है। सम्पूर्ण व्रतों का यह आदि मूल है। (किस प्रकार है, इसका वर्णन करते हैं)—

स्वाध्याय से ज्ञान प्रकट होता है, ज्ञान से जीवादिक तत्त्वार्थों का संग्रहण होता है और उस तत्त्वार्थ-परिज्ञान से तत्त्वविषयक श्रद्धान उत्पन्न होता है। रत्नत्रय के मध्य में सम्यग्ज्ञान की स्थिति है। (वह सम्यग्ज्ञान स्वाध्याय परिणाम है) ज्ञानाराधना का लक्षण स्वाध्याय ही है। सम्यग्ज्ञान से ही सम्यक्चारित्र उत्पन्न होता है। इसप्रकार यह स्वाध्याय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का मूल है।

“प्रशस्ताध्यवसायस्य स्वाध्यायो वृद्धिकारणम् ।
तेनेह प्राणिनां निन्द्यं संचितं कर्म नश्यति ॥
सवेगो जायते यस्मान् मोहध्वान्त-विनाशकः ।
मोहादपगतानां हि क्व संसारः क्व तत्फलम् ॥
स्वाध्यायेन समं किञ्चिन्न कर्मक्षपणक्षमम् ।
यस्य संयोगमात्रेण नरो मुच्येत कर्मणा ॥
बह्विभिर्भव कोटीभिर्ब्रतात् यत्कर्म नश्यति ।
प्राणिनस्तत्क्षणादेव स्वाध्यायात् कथितं बुधैः ॥”

—(सिद्धान्तसार, 22/23-26)

अर्थ:—स्वाध्याय प्रशस्त-परिणामों की वृद्धि में कारण है। उन प्रशस्त-परिणामों से प्राणियों का निन्दनीय संचित कर्म क्षय को प्राप्त हो जाता है। स्वाध्याय से मोहान्धकार का विनाशक ‘सवेग’ (संसारभय) उत्पन्न होता है और जहाँ मोह का क्षय हो गया, वहाँ संसार कहाँ और उसका फल (भवगति) कहाँ? स्वाध्याय के समान कर्मनिर्जरा के लिए अन्य कोई साधन नहीं है, जिसके सम्पर्कमात्र से मनुष्य कर्म से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। अनेक जन्मों में किये गये व्रत से जिन कर्मों का प्रणाश होता है, उसके विषय में विद्वानों ने कहा है कि स्वाध्याय से तत्क्षण ही कर्मक्षय हो जाता है।

“पदार्थास्थूल सूक्ष्मांश्च यन्न जानाति मानवः ।

तज्ज्ञानावृत्ति माहात्म्यं नात्मभावो हि तादृशः ॥

आजन्ममृत्युपर्यन्तं तपः कुर्वन्तु साधवः ।
 नैकस्यापि पदस्येह ज्ञानावृत्तिपरिक्षयः ॥
 सर्वशास्त्रविदो धीरान् गुरूनाश्रित्य कुर्वतः ।
 स्वाध्यायं तत्क्षणादेव पदार्थानवगच्छति ॥
 तपोवृद्धिकरश्चासौ स्वाध्यायः शुद्धमानसैः ।
 कथ्यतेऽनेकधा तावदतीचार-विशुद्धितः ॥”

—(सिद्धान्तसार, 11/27-30)

अर्थः—मनुष्य यदि स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों के विषय में नहीं जानता है, वह ज्ञानावरण का ही प्रभाव है। वास्तव में आत्मभाव वैसा (ज्ञान रहित) नहीं है। 'तात्पर्य यह है कि उस ज्ञानावरण का क्षय स्वाध्याय से होता है, जिससे आत्मा को पदार्थ-विषयक परिज्ञान होता है। साधुजन जन्म से मृत्यु-पर्यन्त भले ही तप करते रहें, किन्तु स्वाध्याय के बिना एक पाद ज्ञानावरण का भी परिक्षय नहीं हो पाता है। जो सम्पूर्ण शास्त्रविद्, धैर्य गुणयुक्त गुरुजनों का आश्रय लेकर स्वाध्याय करते हैं, वे शीघ्र ही पदार्थों को जान लेते हैं। यह स्वाध्याय तप में वृद्धिकारक है। इससे अतिचार-विशुद्धि होती है। शुद्ध हृदय आचार्यों ने इसे अनेक प्रकार से कहा है—

“चित्तमर्थनिरीणं श्चक्षुरक्षरपक्षिषु ।
 पत्रेऽस्य संयमः साधोः स स्वाध्यायः किमुच्यते ॥
 श्रद्धावान् यदि सत्साधुः स्वाध्यायं कुरुते सदा ।
 परः स्याद् ध्यानवान् वेगात् स याति परमां गतिम् ॥”

—(सिद्धान्तसार, 11/32-32)

(स्वाध्याय से चित्त और इन्द्रियों का निरोध होकर एकाग्रता की प्राप्ति होती है)

स्वाध्याय के समय चित्त तो पदार्थों में मग्न रहता है और नेत्र पत्र पर लिखित अक्षर पंक्तियों के पाठ में एकाग्र रहते हैं। इसप्रकार साधु के लिए संयम का साधन यह स्वाध्याय है। इसकी प्रशंसा किन शब्दों में की जा सकती है? यदि श्रद्धावान् श्रेष्ठ मुनि सदैव स्वाध्याय में उपयोग लगाता है, तो वह उत्कृष्ट ध्यानसिद्धि को प्राप्त करता है एवं परमगति को पाता है।

“न शीतलाश्चन्दनचन्द्ररश्मयो, न गांगमम्भो न च हारयष्टयः ।

यथा मुनेस्तेऽनघवाक्यरश्मयः शमाम्बुगर्भाः शिशरा विपश्चिताम् ॥

—(शीतलजिनस्तोत्रम्, 46)

चन्दन और चन्द्रमा की रश्मियाँ शीतल नहीं हैं, गंगा का जल और हार (मोती की मालाएं) भी वैसी शीतल नहीं हैं, जैसी हे महामुने ! आपकी निर्दोष वाक्यरश्मियाँ हैं, जिनमें शम का शीतल जल मिला हुआ है और जो विद्वानों के लिए शीतलता उत्पन्न करनेवाली हैं। ❖❖

आइरिय सिरि विज्जाणंद महामुणि थवं

—डॉ० एन० सुरेश कुमार

पंददु पुज्जो विज्जाणंदो जो जुंजदि णियं उवओगं ।

जिणसासण-वड्ढावण-सुकज्जम्मि सदा ॥ 1 ॥

अर्थ:—जिनशासन की वृद्धिरूपी सुकार्य में जिनका उपयोग सदा लगा हुआ है, ऐसे पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी सदा प्रसन्न (हम पर कृपालु) रहे ।

पंददु पुज्जो विज्जाणंदो अप्प-पर-हियासत्तो जो ।

जो-एदि सया चित्तं धम्म-पहावणा-णिमित्तं णं ॥ 2 ॥

अर्थ:—जो धर्म की प्रभावना के निमित्त अपने मन को सदा लगाये रहते हैं, ऐसे अपने व पर के हितान्वेषी पूज्य आचार्यश्री विद्यानंद जी मुझ पर प्रसन्न (कृपालु) हों ।

सहिदूण कडुय सीयल हिमं तेणं कमिदो उण्णद-हिमसेलं खु ।

दंसिदो कइलासं जत्थ पढम-तित्थयरो पत्तो णं णिव्वाणं ॥ 3 ॥

अर्थ:—जिस कैलाशपर्वत से आदिनाथ स्वामी मोक्ष गये, उसी उन्नत हिमालय पर भीषण शीतबाधा सहकर भी जिन्होंने पदयात्रा की, (ऐसे वे विद्यानंद जी सदा जयवन्त हों) ।

बालाणं बुहयणाणं पि सम्मं पडिबोहण-णिमित्तं ।

एसो णिगंगंथराया सगंगथो सिद्धंत-गंथेहिं ॥ 4 ॥

अर्थ:—अज्ञानी एवं ज्ञानिजनों — सभी के प्रतिबोधनार्थं जिन निर्ग्रंथराज ने सिद्धांतग्रंथों के अनुसार ग्रंथ-रचना की (वे आचार्यश्री विद्यानंद जी सदा जयवन्त हों) ।

बालो व होदु वुड्ढो ताणं भासेदि पिय-मिदु-महुर-वयणेहिं ।

को ण वंददि गुरुरायं सया जीव-हिद-णिरदं ॥ 5 ॥

अर्थ:—बालक हो या वृद्ध — सभी के साथ जो प्रिय, मृदुतर एवं मधुर वचनों से बोलते हैं, —ऐसे प्राणीमात्र के हित में निरत गुरुराज (आचार्यश्री विद्यानंद जी) की कौन वंदना नहीं करता है? (अर्थात् सभी करते हैं) ❖❖

उपासक-धर्म

‘सम्यक्त्वपूर्वकमुपासकधर्ममित्थम्, सल्लेखनान्तमभिधाय गणेश्वरेऽत्र ।

जोषं स्थिते प्रविचकास सभा समस्त, भानाविवादेयगिरिं नलिनीतिभद्रम् ॥’

अर्थ:—इसप्रकार सम्यग्दर्शनपूर्वक उपासकधर्म का सल्लेखना-पर्यन्त निरूपण करने के पश्चात् गणधरदेव के मौन हो जाने पर सम्पूर्ण समवरण-सभा वैसे ही प्रसन्न हो उठी, जैसे कि सूर्योदय होने पर कमलिनी खिल उठती है ।

उत्तर मध्यकालीन अपभ्रंश का एक अद्यावधि अप्रकाशित दुर्लभ ग्रंथ तिसट्ठि-महापुराण-पुरिस-आयार-गुणालंकार

-प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन

मनुष्यायु-कर्म के उदय से जो प्राणी मनुष्य-पर्याय धारण करता है तथा भौतिक-जगत् में अपने शौर्य, वीर्य एवं पराक्रमों का प्रदर्शन करता हुआ काल-क्रम से कषायों, वासनाओं एवं विकारों का विजेता बनकर आत्म-विकास के क्षेत्र में वर्धमान रहता है; उस तेजस्वी, मनस्वी एवं पुण्यशाली पुरुष को महापुरुषों की कोटि में गिना जाता है। श्रमण-परम्परा में ऐसे महापुरुष को 'शलाका महापुरुष' की संज्ञा प्रदान कर उनकी कुल संख्या 63 मानी गई है, जिनमें 24 तीर्थंकर, 12 चक्रवर्ती, 9 बलदेव, 9 वासुदेव एवं 9 प्रतिवासुदेव सम्मिलित हैं।

उक्त 63 महापुरुषों में से किसी एक अथवा एकाधिक के चरित को आधार मानकर संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश कवियों ने समय-समय पर अनेक रससिद्ध काव्य-ग्रन्थों की रचनाएँ की हैं। किन्तु उक्त सभी 'शलाका-महापुरुषों' के चरित का एक ही साथ विस्तारपूर्वक ग्रथन करने वाले तीन ग्रंथ अद्यावधि उपलब्ध एवं प्रकाशित हैं। आचार्य जिनसेनकृत 'महापुराण' अथवा त्रिषष्टिशलाकामहापुरुषचरित', महाकवि पुष्पदन्तकृत 'महापुराण' अथवा तिसट्ठिमहापुराणपुरिसगुणालंकार' तथा आचार्य हेमचन्द्रकृत 'त्रिषष्टिशलाका-महापुरुष-चरित्र'। इनमें से प्रथम एवं अन्तिम ग्रंथ संस्कृत-भाषा-निबद्ध हैं तथा दूसरा ग्रंथ अपभ्रंश-भाषा निबद्ध है।

'त्रेसठ शलाका महापुरुष' - सम्बन्धी एक अन्य अपभ्रंश-रचना भी कुछ वर्ष पूर्व इन पंक्तियों के लेखक को उपलब्ध हुई है, जिसका नाम "तिसट्ठिमहापुराणपुरिसआयार-गुणालंकार" (अपरनाम 'महापुराण') है। इस रचना के प्रणेता महाकवि रङ्घू है। सन् 1956 में हमने जब रङ्घू-साहित्य पर अपना शोधकार्य प्रारम्भ किया था, उसी निमित्त से कुछ प्रमुख प्राच्य शास्त्र-भण्डारों से रङ्घू की पाण्डुलिपियों की खोजकर उनकी प्रशस्तियों में उक्त 'तिसट्ठि' (महापुराण) का जब नामोल्लेख देखा, तभी से उसकी खोज में भी वह लगभग 15 वर्षों तक व्यग्रतापूर्वक प्रयत्नशील बना रहा। संयोग से उसकी एक प्रति गुरुवर्य श्रेष्ठेय पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री की कृपा से कुछ समय के लिए बाराबंकी (उ०प्र०) के एक जैन-शास्त्र-भण्डार से प्राप्त हुई थी। यह रचना अत्यन्त विशाल है। अतः उसके सम्पूर्ण अध्ययन के लिए दीर्घावधि अपेक्षित है, किन्तु अपने कुछ गुरुजनों एवं मित्रों के आग्रह से उसका संक्षिप्त सामान्य-परिचय तैयार कर साहित्यरसिक पाठकों की जानकारी के लिए यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ।

प्रति-परिचय :

'तिसट्ठिमहापुराणपुरिसआयारगुणालंकार' की प्रस्तुत प्रतिलिपि वि०सं० 1499 आषाढ सुदी 5 बुधवार की है। इसका प्रतिलिपि-स्थल गोपाचल-दुर्ग है। साधु (साहू) नत्थु के पुत्र रामचन्द्र ने इसकी प्रतिलिपि गोपाचल के तोमरवंशी राजा डूंगरसिंह, (वि०सं० 1481 से 1510 है,) के राज्यकाल में की थी, जैसाकि अन्त्य 'पुष्पिका' से विदित हुआ है:—

“अथ संवत्सरेऽस्मिन् श्री विक्रमादित्य-गताब्द-संवत् 1499 वर्षे आषाढ सुदि 5 बुद्धवासरे श्री गोपगिरौ महाराजाधिराजा श्री डूंगरसिंह राजा वर्त्तमाने साधु नत्थु पुत्र रूपचन्द्र लिखितम्।”

उक्त प्रतिलिपिकार रूपचन्द्र वही है, जिन्होंने महाकवि रङ्गू के 'पासणाहचरित' की वि०सं० 1498 में प्रतिलिपि की थी। वह प्रति सचित्र है, जो दिल्ली के एक प्राचीन जैन शास्त्रभण्डार में सुरक्षित है। 'तिसट्ठिमहापुराण' एवं उक्त 'पासणाहचरित' के प्रतिलिपिकालों से यह स्पष्ट है कि प्रतिलिपिकार रूपचन्द्र ग्रंथकर्त्ता कवि रङ्गू के समकालीन एवं उनके अनन्य भक्त थे। इन रूपचन्द्र की उक्त दोनों ग्रन्थों की प्रतिलिपियों को देखने से यह भी स्पष्ट विदित होता है कि वे एक प्रामाणिक सुप्रतिलिपिकार, अपभ्रंश-भाषा के जानकार, विद्वान् साहित्यरसिक एवं जिनवाणी-भक्त थे। यह भी प्रतीत होता है कि वे सम्भवतः चित्रकार भी थे और उक्त 'पासणाहचरित' के चित्र सम्भवतः उन्हीं के द्वारा निर्मित थे। इस विषय में विशेष शोध-खोज की आवश्यकता है। 'पासणाहचरित' (सचित्र) की प्रतिलिपिकार-प्रशस्ति में उन्हें अग्रोतक वंशोत्पन्न-साधु नत्थु एवं करमा का पुत्र कहा गया है।

'तिसट्ठिमहापुराण' की प्रस्तुत प्रति में कुल 456×2 पृष्ठ हैं। प्रत्येक पृष्ठ की लम्बाई एवं चौड़ाई 11.10"×5.5" है। दायाँ एवं बायाँ हाँशिया 1"6" तथा 1"6" ऊपरी एवं निचला हाँशिया 0.5" तथा 0.5" है। प्रत्येक पृष्ठ में कुल पंक्तियाँ 13-13 तथा प्रत्येक पंक्ति में वर्ण संख्या 38 से 44 के मध्य है। पृ०सं० 284ख से लेकर 344क तक के पृष्ठों को छोड़कर बाकी के समस्त पृष्ठों का कागज मोटा एवं उनका रंग मटमैला है। मौसमी प्रभाव एवं प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की सुरक्षा-सम्बन्धी असावधानी से उसकी लिखावट कहीं-कहीं धुंधसली तथा बरसाती नमी के कारण पृष्ठों के परस्पर में चिपक जाने से भी उनकी लिखावट कहीं-कहीं क्षतिग्रस्त हो गई है। अन्तिम पृष्ठ की लिखावट तो इतनी धुंधली हो गई है कि उसे पढ़ना असंभव-जैसा हो गया है।

पृ०सं० 284ख से 344 तक के पृष्ठ अपेक्षाकृत सफेद एवं पतले हैं। उनकी लिखावट भी भिन्न है। उनमें प्रत्येक पृष्ठ में 15-15 पंक्तियाँ हैं और हाँशिये भी अपेक्षाकृत छोटे हैं। इनमें 'घत्ता' शब्द एवं घत्तों की संख्या के स्थान रिक्त हैं। प्रतीत होता है कि प्रतिलिपिकार ने प्रतिलिपि कर चुकने के बाद लाल-स्याही से उन्हें लिख देने के विचार से छोड़ दिया होगा, किन्तु बाद में किसी कारण-विशेष से वह वैसा नहीं कर पाया होगा। समग्र पृष्ठों में काली-स्याही का प्रयोग किया गया है, किन्तु मूलपृष्ठों की काली-स्याही से वह भिन्न है।

मूलपृष्ठों में 'घत्ता' शब्द, घत्तों की संख्या एवं पुष्पिकायें लाल-स्याही में अंकित हैं तथा मूल-कथा-भाग गहरी काली स्याही में है। यह कहना कठिन है कि उक्त पृष्ठ मूलपृष्ठों के अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण हो जाने के कारण उन्हीं की प्रतिलिपि है, अथवा उनके नष्ट हो जाने पर किसी अन्य प्रति की प्रतिलिपि?

मूल प्राचीन-पत्रों के बीचोंबीच सर्वत्र छोटा चौकोर स्थान रिक्त छोड़ा गया है। उसके बीच में एक बड़ा शून्य लाल-स्याही से भरा गया है। इसीप्रकार हाशिए भी समानान्तर काली रेखाओं के बीच लाल-स्याही से भरे गए हैं।

प्रस्तुत 'तिसट्ठि-महापुराण' की भाषा अपभ्रंश है। प्रत्येक 'सन्धि' के अन्त में आशीर्वचन के रूप में विविध छन्दवाले संस्कृत पद्य भी अंकित हैं। उसमें कुल 50 सन्धियाँ एवं 1357 कड़वक हैं, किन्तु कवि ने स्वयं ही इसका विस्तार 1500 प्रमाण बतलाया है। प्रतीत होता है कि इसमें उसने प्रत्येक 'सन्धि' के अन्त में लिखित आशीर्वादात्मक संस्कृत श्लोक, पुष्पिकायें तथा प्रत्येक सन्धि के प्रारम्भ में लिखित विशेष घत्तों को लेकर ही उनकी संख्या 1500 बतलाई है।

मूल-प्रेरक एवं आश्रयदाता :

उक्त 'तिसट्ठि-महापुराण' के प्रणयन के मूल-प्रेरक एवं आश्रयदाता साहू कुन्थुदास हैं। कवि ने आद्य-प्रशस्ति में लिखा है कि—“जब मैं गोपाचल-दुर्ग में (1/2/5) निवास कर रहा था, उसी समय पण्डित महणसिंह तथा उनकी पत्नी मौल्ली के सुपुत्र कुन्थुदास ने आकर मुझसे निवेदन किया कि मैं उन्हें स्वाध्याय-हेतु एक 'तिसट्ठि-महापुराण' की रचना कर दूँ।” (1/2/5-12) रङ्ग ने उक्त विषयक गम्भीरता का अनुभव कर पहले तो उसके प्रणयन में असमर्थता व्यक्त की; किन्तु साहू कुन्थुदास के बार-बार प्रार्थना करने पर कवि ने उसका प्रणयन करना स्वीकार कर लिया (द्र० 1/4/7)।

ये आश्रयदाता कुन्थुदास वही हैं, जिन्होंने महाकवि रङ्ग के लिए पूर्व में भी 'जिमंधरचरित' एवं 'कोमुईकहपबंधु' नाम की रचनाओं के प्रणयन में प्रेरणा देकर (द्र० 1/4) आश्रयदान दिया था। 'तिसट्ठि-महापुराण' की प्रशस्ति से विदित होता है कि वे ऐसे श्रीमन्त थे, जिन्होंने राजकीय विविध सम्मादित पदों पर रहकर तथा अपने पुरुषार्थ से लक्षपति बनकर भी कभी अहंकार नहीं किया। वे निरन्तर ही साहित्य एवं साहित्यकारों का सम्मान करते रहे। उनके पास अटूट ऐश्वर्य-लक्ष्मी तो थी; किन्तु इस बात का उन्हें बड़ा दुःख था कि उनके पास विद्या-लक्ष्मी नहीं। अतः उन्होंने इसके लिए महाकवि रङ्ग से याचना की (50/44)। रङ्ग ने उन्हें 'मित्र' कहकर भी सम्बोधित किया है। इससे प्रतीत होता है कि वे सम-वय (1/2/13) वाले रहे होंगे। रङ्ग ने कुन्थुदास को श्रीमान्, धीमान्, दयालु, साहित्य-रसिक आदि के रूप में स्मरण किया है। यथा—

“सत्यान्नदानेषु विभूति यस्य सच्छास्त्र-अर्थेषु मति-प्रसन्नः ।

जिनाद्रि-पद्मेषु नतांगवृत्तिः स कुन्धुदासो जयतात्सदात्र ॥ —(सन्धि 11)

यः सर्वसत्त्वेषु दयानुभावो जैन-श्रुतानां श्रवणानुरागः ।

परोपकारेषु रतो मनीषी स कुन्धुदासो जयतात्सदात्र ॥” —(सन्धि 15)

‘तिसट्ठि-महापुराण’ की अन्त्य-प्रशस्ति में कुन्धुदास की 10 पीढ़ियों का परिचय भी दिया गया है। तदनुसार पितामह रतन साहू अच्छे पण्डित थे। कवि ने उन्हें मित्तल-गोत्रीय अग्रवाल कहा है। (50/43)

रङ्घू ने अपनी ‘जिमंधरचरित’ की आद्य-प्रशस्ति में लिखा है कि “साहू कुन्धुदास ने अपने (1/4) बाएँ कान में स्वर्णकुण्डल न पहिनकर ‘कौमुदीकथाप्रबन्ध’ रूपी कुण्डल तथा माथे पर ‘महापुराणरूपी मुकुट’ धारण किया था और जब दायाँ कान रिक्त रह गया तब उसमें ‘जिमंधरचरित’ रूपी कुण्डल धारण कर अपना जीवन कृतार्थ किया था।” इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि कुन्धुदास ने रङ्घू को प्रेरित कर उनसे ‘कोमुडकहा-पवंधु’, ‘तिसट्ठि-महापुराण’ एवं ‘जिमंधरचरित’ —इन तीन रचनाओं का प्रणयन कराया था। इनमें से अन्तिम दो रचनायें तो उपलब्ध हो गई हैं; किन्तु प्रथम रचना ‘कोमुडकहापवंधु’ की खोज जारी है।

पूर्वकालीन एवं समकालीन भट्टारकों के उल्लेख :

रङ्घू ने कुन्धुदास का परिचय देते हुए उनके कुलगुरु के रूप में भट्टारक हेमकीर्ति मुनि का स्मरण किया है तथा उन्हें ‘गच्छ का नायक’ कहा है। भट्टारक हेमकीर्ति के साथ कवि ने उनके पूर्ववर्ती भट्टारक विजयसेन, नयसेन, अश्वसेन, अनन्तकीर्ति एवं खेमकीर्ति के उल्लेख भी किये हैं। कवि ने इन सभी को माथुरसंघी बताया है। ‘प्रवचनसार’ की एक प्रतिलिपिकार-प्रशस्ति में उक्त भट्टारकों की परम्परा काष्ठासंघ, माथुरगच्छ एवं पुष्करगण शाखा के अन्तर्गत उपलब्ध है। उसमें उक्त हेमकीर्ति भट्टारक का समय वि०सं० 1469 दिया गया है। यथा:— “विक्रमादित्य राज्येऽस्मिंश्चतुर्दश-परे शते ।

नवषष्ट्या युते किं नु गोपाद्रौ देवपत्तने ॥”

—(प्रवचनसार-प्रशस्ति श्लोक, 3. बम्बई, 1935, दे० भट्टारक-सम्प्रदाय, पृ० 226)

भट्टारक हेमकीर्ति के पूर्व के भट्टारकों के समय को ज्ञात करने के लिए हमारे पास वर्तमान में साधन-सामग्री का अभाव है, किन्तु यह निश्चित है कि वे संवत् 1400 से वि०सं० 1469 के मध्य हुए हैं।

कविगुरु-पाल्हबम्मः

महाकवि ने ‘तिसट्ठि महापुराण’ में अपने गुरु भट्टारक पाल्हब्रह्म का उल्लेख किया है और कहा है कि—“प्रस्तुत रचना पाल्हब्रह्म के शिष्य मैंने (अर्थात् रङ्घू ने) की है।” कवि ने उक्त पाल्हब्रह्म (50/44/16) का उल्लेख अपनी ‘सम्मइजिणचरित’ (10/28/9-10)

तथा 'बलहृद्दचरित' (1/4/7-8) में भी किया है। 'सम्मइजिणचरित' में कवि ने उन्हें काष्ठासंध, माथुरगच्छ एवं पुष्करगण के प्रमुख भट्टारक यशःकीर्ति के तीन शिष्यों में से प्रधानशिष्य कहा है तथा 'बलहृद्दचरित' में उन्हें अपने गुरु के रूप में स्मरण किया है। रङ्ग ने उन्हें 'आचरिय' (आचार्य) विशेषण से सम्बोधित किया है, किन्तु उनका विशेष परिचय नहीं दिया है। अपभ्रंश-साहित्य में रङ्ग को छोड़कर इनका उल्लेख अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिल सका है। पाल्हब्रह्म के गुरु भट्टारक यशःकीर्ति का समय वि०सं० 1486 से 1510 निश्चित है। अतः पाल्हब्रह्म का समय भी उसी से निश्चित हो जाता है।

प्रस्तुत रचना के संशोधक एवं सहायक श्री बोहित्यः

'तिसट्ठिं महापुराण' की अन्त्य प्रशस्ति (50/41/3) में महाकवि रङ्ग ने लिखा है कि—“हेमकीर्ति मुनि के शिष्य श्री बोहित्य ने प्रस्तुत महापुराणरूपी श्रेष्ठ स्वर्ण को अपनी बुद्धिरूपी कसौटी पर निष्कपट-भाव से कसकर उसे ऐसे चित्रलेखों से सुशोभित किया है कि जिसमें उस ग्रन्थ ने गुणीजनों के भी चित्त को मोह लिया।” यथा:—

“हेमकीर्ति मुणिणाहह सीसैं जो बुहविंदहिँ पणविउ सीसैं ।
 बंभव्वय धारण गरीसैं संसारोवहि णिवडण भीसैं ।।
 सिरि बोहित्य णाम सु पहाणें गयतदेण विज्ज-गुण-ठाणें ।
 तेण महापुराण वर-कंचणु-मइ-कसवट्टिहि कसिवि अवंचणु ।।
 चित्तलेह-लाएण्णिणु सोहिउ गुणियण-विंदु सयलु-खणि-मोहिउ ।
 चहुविह-भेय-सुवण्णहि घडियउ अच्छ-पसच्छ-रयण-गण-जडियउ ।।
 कुंथयास-साहुहु सिर-सेहरु हुउ परिपुण्णु सवण-मण-सुहयरु ।”

—(50/40/1-7)

प्रस्तुत 'तिसट्ठिं-महापुराण' क्या सचित्र था?

उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि श्री बोहित्य ऐसे धुरन्धर विद्वान् एवं कवि थे कि जिन्होंने उक्त 'महापुराण' की भाषा-शैली को सजाया-सँवारा था। इतना ही नहीं, कवि ने संकेत के अनुसार श्री बोहित्य ने उसके रत्नजटित स्वर्णिम चित्र भी तैयार किये थे, जिसके सौन्दर्य ने गुणी-जनों के चित्त को भी मोह लिया था। इससे यह प्रतीत होता है कि उक्त 'तिसट्ठिं-महापुराण' की कोई सचित्र प्रति भी तैयार की गई थी, जो इस समय लुप्त-विलुप्त है अथवा कहीं छिपी पड़ी है। इस विषय में विशेष शोध-खोज की आवश्यकता है।

कवि ने अपनी उक्त सचित्र प्रति के विषय में आगे लिखा है कि—“चार प्रकार के वर्णों से (रंगों) से उन चित्रों को घटित किया गया तथा रत्नगणों से उन्हें जड़ा गया। इस प्रकार वह ग्रन्थराज साहू कुन्धुदास के सिर का 'सेहरा' सिद्ध हुआ। रङ्ग का यह कथन उस मध्यकाल का है, जब पौथियों को स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने तथा उनके चित्रों अथवा पृष्ठों में हीरे-मोती जड़े जाने की प्रथा थी। फिरदौसकृत स्वर्णाक्षरोंवाला रत्नजटित शाहनामा तथा

अन्य कई उसी प्रकार की पाण्डुलिपियाँ आजकल भी उपलब्ध हैं। साहू कुन्थुदास लक्षाधिपति थे ही, अतः उनके सचित्र 'महापुराण' की कोई प्रति स्वर्णाक्षरों में तथा रत्नजटित भी रही हो, तो कोई असम्भव नहीं।

महाकवि रङ्घू की स्वरचित पूर्ववर्ती रचनायें :

साहू कुन्थुदास ने महाकवि रङ्घू से 'तेसटिठ-महापुराण' के प्रणयन की प्रार्थना करते समय कहा है कि "आपने इसके पूर्व अनेक ग्रन्थों की रचना की है।" इससे यह अनुमान होता है कि रङ्घू प्रस्तुत 'महापुराण' के प्रणयन के पूर्व अनेक ग्रन्थ लिख चुके थे; किन्तु उक्त उल्लेख से यह पता नहीं चलता कि कवि के वे ग्रन्थ कौन-कौन से थे, जो 'तेसटिठ-महापुराण' के पूर्व लिखे जा चुके थे (1/2/9)। रङ्घू ने अपने 'सुकुसलचरिउ' एवं 'सम्मत्तगुणिहाणकव्वं' को छोड़कर अपने अन्य किसी भी ग्रन्थ में उनका रचनाकाल अंकित नहीं किया। अतः यह जानकारी प्राप्त करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं कि कौन-कौन-सा ग्रन्थ किस ग्रन्थ के बाद लिखा गया? महाकवि ने यद्यपि अपने कुछ ग्रन्थों में अपनी पूर्वरचित रचनाओं के नामोल्लेख किये हैं; किन्तु उन उल्लेखों में भी कुछ ऐसी विसंगतियाँ हैं कि उनसे भी उनका रचना-क्रम-निर्धारण सम्भव नहीं हो पाया है। हाँ, रङ्घुकृत सम्मत्तगुणचरिउ, पेमिणाहचरिउ, सावयचरिउ एवं जिमंधरचरिउ में कवि की पूर्वरचित रचनाओं में 'तेसटिठ-महापुराण' की रचना हो चुकी थी; किन्तु उक्त चारों रचनाओं में उक्त 'तेसटिठ-महापुराण' के साथ-साथ रङ्घू के पासणाहचरिउ, मेहेसरचरिउ, सिरिवालचरिउ, बलहददचरिउ, सुदंसणचरिउ, धण्णकुमाराचरिउ, जसहरचरिउ, वित्तसारू, जिमंधरचरिउ, कोमुइकहपवंधु, सिद्धंतत्थसारू, पुण्णासवकहा, सोलहकारणभावणा नामक तेरह ग्रन्थों के भी उल्लेख है। इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि 'तेसटिठ-महापुराण' की रचना पूर्वोक्त चार रचनाओं के पूर्व तथा उनमें उल्लिखित तेरह रचनाओं में से आगे-पीछे कभी हुई होगी।

पूर्ववर्ती साहित्यकार :

रङ्घू ने अपने पूर्ववर्ती दो कवियों के नामोल्लेख बड़े ही आदरपूर्वक किये हैं—आचार्य जिनसेन एवं महाकवि कव्वपिसल्ल। 'कव्वपिसल्ल' अपभ्रंश के महाकवि पुष्पदन्त ही है। जिनकी 'अभिमानमेरु' एवं 'काव्यपिशाच' ये दो उपाधियाँ प्रसिद्ध रही हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि रङ्घुकाल में पुष्पदन्त 'कव्वपिसल्ल' नाम से ही अधिक प्रसिद्ध रहे होंगे। उक्त दोनों महाकवियों के महापुराण ही प्रस्तुत 'तेसटिठ-महापुराण' के मूलस्रोत रहे हैं।

कवि का आत्म-परिचय :

आत्म-परिचय देते हुए महाकवि रङ्घू ने 'तेसटिठ-महापुराण' में अपने को संघवी देवराज तथा उनकी भार्या चन्द्रश्री का पौत्र, हरिसिंह एवं उनकी भार्या विजयश्री का पुत्र तथा 'उदयराज का पिता' कहा है। कवि ने अपने भाई, भाभी एवं भतीजे के नामोल्लेख भी

किये हैं। ज्येष्ठ भाई एवं भाभी का नाम क्रमशः वाहोड एवं नयनश्री था, जिससे मोलिक्य नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था। मंजले भाई एवं भाभी का नाम क्रमशः माहणसिंह एवं लवंगश्री था। इनकी सन्तान का उल्लेख नहीं है। रङ्घू सबसे छोटे भाई थे। उनकी पत्नी का नाम लक्षणश्री था। कवि ने अपनी एक अन्य रचना 'मेहेसरचरिउ' में अपनी पत्नी का नाम सावित्री कहा है। इन दो पृथक्-पृथक् नामों से यह कहना कठिन है कि उनकी दो पत्नियाँ थीं अथवा एक के मृत होने पर उन्होंने अपना दूसरा विवाह किया था। कवि का यह पारिवारिक परिचय यद्यपि अत्यन्त संक्षिप्त एवं नामावली मात्र है; फिर भी वह उसकी अन्य रचनाओं में उपलब्ध परिचय की अपेक्षा अधिक स्पष्ट एवं विस्तारपूर्वक है। क्योंकि इसमें उसके परिवार का पूर्व विवरण एक साथ मिल जाता है। किन्तु विश्वास है उसकी अद्यावधि अनुपलब्ध करंकडचरिउ, कोमुइकहापवंधु, जिणदत्तचरिउ, भविसयत्तचरिउ, पज्जुण्णचरिउ नामक रचनायें जब उपलब्ध होंगी; तब सम्भवः कवि का परिचय अपनी अन्य कुछ विशेष विशेषताओं के साथ उपलब्ध हो सके?

महाकवि रङ्घू के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर पर्याप्त चर्चा हो ही चुकी है, अतः यहाँ संक्षेप में इतना जान लेना ही पर्याप्त होगा कि उनका जीवन एवं रचनाकाल वि०सं० 1440 से वि०सं० 1536 के मध्य रहा है। उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचनायें कीं, जिनमें से अभी तक 23 ग्रन्थ उपलब्ध हो चुके हैं तथा 6 ग्रन्थ ज्ञात, किन्तु अभी तक अप्राप्त हैं।

ग्रन्थ का विषय-क्रम :

प्रस्तुत ग्रन्थ की सन्धिक्रमानुसार विषय-सूची निम्न प्रकार है—

सन्धि सं०	कडवक सं०	विषयक्रम
1.	14	महावल तणु विभोयणं ललियंग देवोप्पत्ति वण्णणं ।
2.	30	वज्जणाभि-चक्कवटिट् तित्थयर-गोत्त-बंध सव्वत्थसिद्धि-गमणं ।
3.	32	रिसहेसर-णिव्कमण कल्लाण वण्णणो णमि-विणमि वेयड्ढलंभो ।
4.	31	भरह छक्खंड-पसाहणं ।
5.	40	भरह मेहेसर-सुलोयणा भवंतर-वण्णणं ।
6.	36	सिरिवाल-कहंतर-पयासण रिसहेसर-भरह-णिव्वाणगमणं ।
7.	17	अजियणाह-सगर-चक्कवटिट् कहंतरं वण्णणं ।
8.	31	सुपासणाह-णिव्वाण-गमणं ।
9.	17	ससिपह-जिण-णिव्वाण-गमणं ।
10.	42	अस्सगीव-तित्तिट्ठकहा ।
11.	25	संजयंत-मंदरमरकहा ।
12.	24	सणंकुमार-णिव्वाण-गमणं ।

13.	32	संतिजिण-भवंतरं ।
14.	19	अरणाह-णिव्वाण-गमणं ।
15.	25	मल्लिणाह-पमुह-चक्क-महापउम-हरिकहंतर ।
16.	16	मुणिसुव्वय-हरिसेण-णिव्वाण-गमणं ।
17.	37	रावण-वंस-णिदूदेस-वण्णणं ।
18.	35	राम-लखण-वणवास-हिंडणं देसकुलभूषण-उपसग-विहंडणं ।
19.	38	राम-विहीसण-मेलाव-वण्णणं ।
20.	38	रामविजय-वण्णणं सीयालाह-अजुज्जा-गमणं ।
21.	22	रामचंद-केवलि-वंदणं तह विहीसण-भवंतर-पिच्छाकरणं ।
22.	17	लक्खणपुत्त-हणुवंत-तव-संगहणं ।
23.	13	दासरहि-णिव्वाण-गमणं लक्खण-रावण-हरि-पडिहरि-कहंतर-वण्णणं ।
24.	10	णमि-णिव्वाण-गमणं जयसेण-कहंतर-वण्णणं ।
25.	23	दस-दसार-भवावलि-वण्णणं ।
26.	24	णारायण-उप्पत्ति-गोउल-गमणं ।
27.	25	जायवकुल-णिग्गमण-वारवइ-लंभो ।
28.	31	पज्जुण-उप्पत्ति, विभंग-विज्जालाह दारावइ-आगमण-वण्णणं ।
29.	35	पंडव-लक्खाहर-पवेस दोवइ-पाणिग्गहण-णियदेसागमणं ।
30.	22	पंडव-वइराड-पवेस-वण्णणं ।
31.	38	गगेय-अहिमण-समरि-पडणं तहेव सण्णासमरणं ।
32.	44	दुज्जोहण-जरसिंध-वहणं णारायण-रज्जकरणं दोवइ-हयणु वण्णण-पंडव-दाहिण-मदुरा-गमणं ।
33.	21	अणिरुद्धचरिय-वण्णणं णेमि-जिण-संखाइ-पूरणं ।
34.	47	वारवइ-वण्णणं णेमि-जिण-संखाइ-पूरणं ।
35.	25	पासणाह-णिव्वाण-गमणं ।
36.	21	णंदराय-भवावलि, पुप्फोत्तर-विमाण-गमणं ।
37.	19	वड्ढमाण-केवल-णाणोप्पत्ति, गौतम-गणधर-भवांतर ।
38.	21	सेणिय-णिव-भवावलि-पिच्छाकरणं ।
39.	47	सेणिय-णिव-णिय-अतीदागामि-भवावलि-वण्णणं ।
40.	12	वारिसेण-कहंतर ।
41.	36	धणयत्त-कहंतर ।
42.	15	सुदंसण-जम्म-विवाहोच्छव-वण्णणं ।
43.	14	सेट्ठि-तणु-सग-वण्णणो ।
44.	14	सुदंसण-सोल-पहाव-वण्णणो ।

45.	31	सुदंसण-णिव्वाण-गमणं ।
46.	26	वड्ढमाण-जिण-णिव्वाण-गमणं ।
47.	28	जंबूसामि-वेरग-वण्णणो तहेव पाणिगहण-करणो ।
48.	28	सोडस-कहंतर-वण्णणो विज्जुचरण-पडिवोहणं ।
49.	25	सम्मण्णाण-कहा ।
50.	44	छहकाल-णिददेस-वण्णणं ।

रस-संयोजन :

रस-योजना की दृष्टि से 'तिसट्ठि-महापुराण' में प्रसंगवश अन्य रसों के साथ शृंगार, वीर एवं शान्तरस आदि का भी सुन्दर परिपाक हुआ है। गणिकाओं के वर्णन-सन्दर्भ में कवि ने शृंगार, हाव-भाव एवं चेष्टाओं का सजीव वर्णन किया है। संयोग-शृंगार (46/34) के विभाव-अनुभाव भी उपस्थित किये गए हैं। कवि ने संयोग के पूर्व उत्पन्न होने वाले मानसिक-द्वन्द्वों का स्पष्ट अंकन किया है। मनोज्ञ नायिका के दर्शन के पश्चात् नायक के मन में उत्पन्न होने वाली विभिन्न मनोभावनायें मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की दृष्टि से जितनी महत्वपूर्ण हैं, उतनी ही सरसता की दृष्टि से भी।

शृंगार का पोषक वीररस है। प्रस्तुत 'तिसट्ठि-महापुराण' में वीर-रस के सन्दर्भ अनेक स्थलों पर आये हैं। लव-कुश और राम-लक्ष्मण के युद्ध में कवि ने दर्पोक्तियों के साथ वीर-रस का नियोजन किया है। इस सन्दर्भ में वीर-रस की तुलना हम 'पृथ्वीराजरासो' के 'संयोगिता-स्वयंवर' से कर सकते हैं। दोनों ही संदर्भों में वीरों की भावनाओं का चित्रण समानरूप में हुआ है। लव और कुश की वीरता और रणनीति वीरगाथा-कालीन रणनीति के समकक्ष है। जब लव, राम एवं लक्ष्मण को युद्ध-भूमि में आवेष्टित कर लेते हैं, तब दोनों ओर के ही पराक्रमी वीर योद्धा अपनी-अपनी वीरता का प्रदर्शन करते हैं; परन्तु लव और कुश की वीरता के समक्ष राम-लक्ष्मण को हतप्रभ हो जाना पड़ता है। परिस्थिति की विकटता को समझकर सीता रणक्षेत्र में उपस्थित होती है और वीरता का दृश्य तत्काल ही शान्ति में परिणत हो जाता है। इस नाटकीय पट-परिवर्तन के साथ वातावरण भी एक नया रूप ग्रहण कर लेता है और अग्नि-परीक्षा के बाद सीता चिरन्तन-शान्ति के हेतु वन की ओर चली जाती है। इसप्रकार कवि रङ्ग ने वीर-रस एवं शान्तरस की योजना एक ही सन्दर्भ में नियोजित कर काव्य-चमत्कार का सृजन किया है।

भाषा :

'तिसट्ठि महापुराण' का काव्य, इतिहास एवं संस्कृति की दृष्टि से जितना महत्त्व है, उससे भी कहीं अधिक महत्त्व भाषा की दृष्टि से है। प्रस्तुत ग्रन्थ में 15-16वीं सदी के मध्य में प्रयुक्त होने वाली जनपदीय भाषाओं के अनेक शब्द उपलब्ध होते हैं, उनमें से कुछ

इसप्रकार हैं— दुव्व (बुन्देली-दूब) =दूर्वादल (1/10/1), दुक्की (बुन्देली-दूकना) =झांकना (1/7/7), डोल्ल (बुन्देली डोलना=हिलना अथवा व्यर्थ घूमना)=डोलना (1/19/1), लक्कड़ (बुन्देली एवं ब्रज) =मिट्टी (2/26/1), ईट (2/26/2, 6), लड्डू (2/26/4), पित्तलि=पीतल (46/9/8), फेंणी=फेनी नामक मिठाई (2/26/4), चइत (भोजपुरी)=चैत्रमास (3/10/10), चोजु (बुन्देली)=आश्चर्य (3/14/4), कल्ल=काल (46/17/7), वक्खाण (बुन्देली बखान) =व्याख्यान (1/14/6) आदि ।

इसप्रकार संक्षेप में 'तिसट्ठो-महापुराण' का सामान्य परिचय प्रस्तुत किया गया है । वस्तुतः यह ग्रन्थ मध्यकालीन-साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण कृति है । अपभ्रंश-भाषा, इतिहास एवं संस्कृति की दृष्टि से तो यह महत्त्वपूर्ण है ही, कवि के संकेतानुसार यदि इसकी सचित्र प्रतिलिपि भी उपलब्ध हो गई, तो वह मध्यकालीन चित्रकला की दृष्टि से भी अनुपम सिद्ध होगी । ❖❖

प्रेरक-प्रसंग 1

नाम का व्यामोह

आचार्यप्रवर शातिसागर जी के संघ में एक मुनिश्री नेमिसागर जी थे । एक बार पूज्य आचार्य शातिसागर जी के अनन्य भक्त श्रावक श्रेष्ठि (गुलाबचंद जी) ने पूज्य आचार्यश्री से पूछा कि "आचार्यश्री ! मैं दस हजार रुपये दान देना चाहता हूँ, कहाँ दूँ? कृपा करके मार्गनिर्देशन करें ।" तो आचार्य शातिसागर जी बोले कि "कमाते समय क्या मेरे से परामर्श या अनुमति ली थी, जो अब उपयोग करते समय पूछ रहे हो? जहाँ जी में आये, वैसा करो ।"

तब वह श्रेष्ठि संघस्थ मुनि श्री नेमिसागर जी के पास गये और यही जिज्ञासा रखी, तो मुनि नेमिसागर जी ने अपने नाम से चलनेवाली किसी संस्था में वह धनराशि दान देने की प्रेरणा दी । तदनुसार ही उक्त श्रेष्ठि ने दस हजार रुपयों की धनराशि मुनिश्री द्वारा निर्दिष्ट संस्था में दान कर दी । जब यह वृत्तान्त आचार्यप्रवर श्री शातिसागर जी को विदित हुआ, तो वैयक्तिक नाम से संस्था चलाने एवं उसके लिए धनराशि दान देने की प्रेरणा देने के कारण उन्होंने मुनि श्री नेमिसागर जी को संघ से अलग कर दिया तथा बहुत अनुनय करने के बाद भी यह कहकर पुनः संघ में सम्मिलित करने से मना कर दिया कि "यदि मैं तुम्हें संघ में वापस ले लूँगा, तो मुनियों में अपने नाम से संस्था बनाने व दानराशि/चंदा की प्रेरणा देने की खोटी परम्परा चल पड़ेगी । मैं इस पद्धति के सख्त खिलाफ हूँ ।"

इतना ही नहीं, उन्होंने यावज्जीवन उक्त मुनिश्री एवं श्रेष्ठि से आशीर्वाद देने के अतिरिक्त किसी तरह की कोई बातचीत भी नहीं की, ताकि उनको प्रश्रय व प्रोत्साहन नहीं मिले । आज अपने आपको आचार्य शातिसागर जी की परंपरा में कहलाने वाले और अपने नामों से संस्थाएँ स्थापित करने वाले श्रमण कृपया इस तथ्य की ओर ध्यान दें । ❖❖

अपभ्रंश की सरस सशक्त जैन-कृति 'चूनडी रासक'

—कुन्दन लाल जैन

यह आलेख नवीन प्राकृत-शोध की प्रवृत्ति की प्रेरणार्थ यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। इसकी हस्तलिखित प्रेसकॉपी जैसी लेखक ने भेजी, उसे ही यथासंभव संपादित कर यहाँ दिया जा रहा है। 'चूनडीरासक' की प्रति भी मूलप्रति या उसकी छायाप्रति नहीं उपलब्ध होने से लेखकीय प्रेसकॉपी के आधार पर यहाँ दी जा रही है।

—सम्पादक

'चूनडीरासक' अपभ्रंशभाषा की एक सरस एवं सशक्त कृति है, जो अब तक विद्वज्जनों की दृष्टि से अगोचर रही है। इसके रचयिता मुनिश्री विनयचन्द्र जी 13वीं सदी के पूर्वार्द्ध के एक सशक्त कवि माने जाते हैं। यद्यपि इनकी किसी भी कृति में रचनाकाल का उल्लेख न होने से सुनिश्चित-तिथि का निर्धारण असंभव है; परन्तु अपनी गुरु-परम्परा तथा रचनास्थल का उल्लेख होने से इनके काल-निर्णय में सहायता मिलती है। मुनिश्री विनयचन्द्र जी की पाँच कृतियाँ उपलब्ध हैं; परन्तु अभी तक किसी भी कृति का प्रकाशन नहीं हुआ है; अतः यहाँ हम उनकी एक छोटी सी कृति 'चूनडीरासक' अविकलरूप से प्रस्तुत कर रहे हैं। उनकी कृतियाँ हैं:— (1) चूनडीरासक, (2) गिञ्जरपंचमीकहा, (3) णरग-उतारीरासक, (4) कल्याणरासक और (5) गिदुक्खसत्तमीकहा।

'चूनडीरासक' 32 छंदों की एक छोटी सी सरस कृति है, जो हमें अभी डेढ़ दो वर्ष पूर्व एक गुटके से प्राप्त हुई है; इसके साथ में 'कल्याणरासक' भी है। जिस गुटके से यह कृतियाँ मिली हैं, उस गुटके के पत्रकों की कुल संख्या 464 है; प्रत्येक पत्रक की लम्बाई 25 से०मी० तथा चौड़ाई 16 ½ से०मी० है। प्रत्येक पत्रक में 14-14 पंक्तियाँ हैं तथा प्रत्येक पंक्ति में 30-32 अक्षर हैं। साथ में कृति के अगल-बगल, उपर नीचे हासियों में स्वोपज्ञ टीका बारीक अक्षरों में टिप्पण की भाँति अंकित है। गुटके की लिपि सुवाच्य और सुन्दर है, इसमें काली स्याही का ही प्रयोग किया गया है। विराम-चिह्न के लिए हर पंक्ति के ऊपर पतली रेखा (पूर्ण विराम की भाँति) अंकित है, जिससे प्रतिलिपि शुद्धतापूर्वक की जा सकती है; परन्तु यह खेद की बात है कि आदि एवं अंत के पत्रक न होने से गुटके का लिपिकाल, लिपिकर्ता, लिपिस्थल तथा अन्य ऐतिहासिक उपयोग की सामग्री से हम वंचित हो जाते हैं। 'चूनडीरासक' की स्वोपज्ञ टीका में प्राकृत-गाथाओं के उद्धरण भी विद्यमान हैं। इस स्वोपज्ञ टीका में 18 लिपियों के नामोल्लेख हैं, जो भाषाविज्ञान के विद्यार्थियों के अध्ययन-हेतु अतिउपयोगी हैं, अतः 'कुवलयमालाकहा' (7-8 वीं सदी) में उल्लिखित देशी-भाषाओं के साथ तालमेल बिठाकर एक तालिका-रूप में नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं।

‘चूनडी रासक’ में चूनडी (महिलाओं के ओढ़ने चुनरिया) को प्रतीक बनाकर कवि ने सरस संवादात्मकरूप से जैनशास्त्र के मार्मिक रहस्यों को प्रकट करने का अनथक प्रयास किया है, जिससे प्रत्येक पाठक जैनशासन के मूलभूत रहस्यों तथा उनके भेद-प्रभेदों से भली-भाँति अवगत हो सके। गीतिकाव्य के रूप में कवि एक मुग्धा नायिका से अपने पति से परिहास करती हुई निवेदन करते हैं— कि “हे सुभग! कृपया जिनमंदिर में जाकर मुझे एक ऐसी अनुपम चूनडी शीघ्र ही छपवा दीजिए, जिससे मैं जिनशासन के मार्मिक रहस्यों को सरलता से समझ सकूँ और उनमें निपुण हो जाऊँ। यदि आज वैसी चूनडी नहीं छपा देते हैं, तो मुझे उस छीपे से उलाहना तथा तानाकशी सुननी पड़ेगी।” तब पति अति स्निग्ध भाव से उससे कहता है कि—“हे मुग्धे! वह छीपा मुझे जैन-सिद्धान्तों के रहस्यों के मर्म से परिपूर्ण एक चूनडी छपाकर देने को कहता है, जो वस्तुतत्त्व के विविध वाग्भूषण-स्वरूप आभूषणों से अलंकृत होगी। जिनके अध्ययन से जिनशासन के मार्मिक रहस्यों का उद्घाटन होता है, इनसे मनरूपी शरीर की अद्वितीय शोभा बढ़ेगी तथा भेदविज्ञान के सच्चे स्वरूप को समझने में समर्थ हो सकेगी।” मुग्धा नायिका यह सुनकर बड़ी प्रसन्न हो जाती है और कवि जैन-सिद्धान्त के मार्मिक रहस्यों से छपी हुई चूनडी के रूप में इस सरस कृति की रचना को आगे बढ़ाते हैं।

‘चूनडी रासक’ में मुनि विनयचन्द्र ने अपनी गुरु-परम्परा द्वितीय छंद में इसप्रकार अंकित की है—

“माथुरसंघहो उदय मुणीसरु, पणविवि बालइंदु गुरु गणहरु ।
जंपइ विणय-मयंकु मुणि, आगमु दूगमु जइवि ण जाणऊं । ।
मालिज्जहु अवराहु मुहु भवियहुं यहुं चूनडिय वरवाणऊं ।
विणयं वंदिवि पंचगुरु..... । ।

मुनि विनयचन्द्र (विणय मयंकु) के गुरु बालचन्द्र (बालइंदु) थे और उनके गुरु उदयचन्द्र थे, जो माथुरसंघी थे। उदयचन्द्र पहले गृहस्थ थे और इनकी पत्नी का नाम देमति (देवमती) था। गृहस्थावस्था में लिखी इनकी ‘सुगंधदशमी कथा’ उपलब्ध है, जिसमें वे स्वयं लिखते हैं:—

“णिय-कुलणह-उज्जोइय-चंदहं सज्जण-मण-कय-णयणाणंदइं ।”

अपनी सुशीला पत्नी का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं—

“अइ सुसील देमइयहि कंतइं”

श्री उदयचंद मुनि विनयचंद्र के विद्यागुरु थे, दीक्षागुरु नहीं। वे मथुरा के पास यमुना-तट पर ‘महावन’ नामक नगर रहा करते थे। वहीं के जिनालय में रहकर मुनि विनयचंद्र ने ‘णरग-उतारी-रासक’ की रचना की थी, जिसमें महावन को स्वर्ग-खण्ड-तुल्य निरूपित किया है:—

“अमिय-सरिस उजवणजलु, नयरु महावण सग्गु ।

तहिं जिणभवण वसंत इण, विरइउ रासु समग्गु ।।”

‘ब्रज जनपद’ के 9 वन और 24 उपवन प्रसिद्ध है:— जैसे वृन्दावन, अग्रवन, जम्बूवन, महावन, मधुवन, तालवन, कामवन, वकवन, भाण्डीरवन आदि; जिनमें से महावन (पुराना गोकुल) एक महान् प्रसिद्ध नगर की भाँति विख्यात रहा होगा और बड़ा समृद्ध एवं जिनालयों से युक्त रहा होगा ।

‘चूनडीरासक’ में मुनि विनयचंद्र ने ‘तिहुवणगिरि’ (त्रिभुवनगिरि-तहनगढ़) का उल्लेख किया है, जहाँ के जिनमंदिर में रहकर इसकी रचना की थी। यहाँ के शासक श्री अजयपाल नरेन्द्र थे। इसी तरह ‘णिज्जरपंचमीकहारासक’ में भी ‘तिहुवणगिरि’ का उल्लेख किया है। यथा—

“तिहुवणगिरि पुरु जगि विक्खायउं, सग्गखण्डु णं घरियलि आयउं ।

तहिं णिवसंत्यं मुणिवरिणा, अजयणरिंदह रायबिहारी ।।

वेगि विरइय चूनडियं, सोहहो मुणिवर जं सुविसारा ।

पणविय वंदिवि पंचगुरु० ।।”

‘णिज्जर-पंचमीकहा-रासक’ का छंद

“तिहुवणगिरि तलहटी इहु रासउ रयउ, माथुर संघह मुणिवर विवायचंदि कहिउ ।”

मुनि विनयचन्द्र के काल-निर्णय में हमें उपर्युक्त उद्धरणों में दो ही आधार मुख्यतया मिलते हैं। पहला तो मुनि विनयचंद्र की गुरु-परंपरा के उदयचंद्र मुनि का महावन नगर जिसके जिनालय में रहकर उन्होंने ‘णरग-उतारी रास’ की रचना की थी और दूसरा आधार तिहुवणगिरि के राजा अजयपाल नरेन्द्र के शासनकाल में ‘चूनडीरासक’ की रचना की थी। महावन और तिहुवनगिरि —ये दोनों ही मथुरा, बयाना (श्रीपथ= पथयमपुरी) और भरतपुर राज्य के समीपस्थ स्थानों में से हैं। चूँकि पहला आधार महावन नगर का हमें कोई और ऐतिहासिक प्रमाण की उपलब्धि नहीं होती है, अतः हम दूसरा आधार तिहुवन गिरि और अजयपाल नरेन्द्र को ही प्रामाणिक ऐतिहासिक साक्ष्य के रूप में आधार मानकर मुनि विनयचंद्र के समय का निर्णय करेंगे।

‘तिहुवणगिरि’ (त्रिभुवनगिरि-तहनगढ़) महावन से दक्षिण पश्चिम में 100 कि०मी० दूर राजस्थान के पर्व भरतपुर राज्य में था, जिसे त्रिभुवनपाल नामक यदुवंशी राजा ने बसाया था। आज का ‘बयाना’ नगर जो यादवों की राजधानी थी, इसी नगर के आसपास था। बाद में ‘त्रिभुवनगिरि’ ही ‘तहनगढ़’ नाम से विख्यात हुआ, जो तहनपाल राजा के नाम पर विख्यात हुआ। मुनि विनयचंद्र का निवास तथा विहार इन्हीं मथुरा-भरतपुर-बयाना राज्यों के आसपास ही रहा। ‘तिहुवणगिरि’ के यदुवंशी राजा अजयपाल की प्रशस्ति सं० 1207 (1150 A.D.) की महावन के पास से प्राप्त हुई है (दखो Epigraphica Vol.

I, P. 289)। अजयपाल के उत्तराधिकारी 'हरिपाल' का उल्लेख सं० 1227 (1170 A.D.) के महावन से प्राप्त शिलालेख में उपलब्ध है (दिसो Epigraphica Vol. II, P. 276)। भरतपुर राज्य के 'अघपुर' नामक स्थान से एक मूर्ति प्राप्त हुई है, जिसके मूर्तिलेख में सं० 1249 (1192 A.D.) में राजा सहनपाल का उल्लेख मिलता है, जो इसी यदुवंशी वंश-परम्परा के शासक थे।

किसी विद्वान् ने मुनि विनयचंद्र का समय वि०सं० 1576 लिखा है, जो सर्वथा भ्रमपूर्ण है। विनयचन्द्र नाम के दशों विद्वानों का उल्लेख श्वेताम्बर-साहित्य में उपलब्ध है। सं० 1445 में लिपिकृत गुटके में मुनि विनयचंद्र कृत 'कल्याणरासक' की रचना विद्यमान है; अतः उनका समय निस्संदेह इस तिथि से पूर्व तो सुनिश्चित है ही। तथा कवि लाखू (लक्ष्मण) ने अपने 'जिनदत्तचरित' में भी किया है, त्रिभुवनगिरि का उल्लेख जिसे राजा त्रिभुवनपाल ने बसाया था। यह नगर अपने समय का अत्यधिक सम्पन्न, समृद्ध एवं राजकीय वैभव से परिपूर्ण नगर था, जिसे देखकर म्लेच्छाधिपति मुहम्मद गौरी ने सं० 1252 (1195 A.D.) इस पर आक्रमण कर इस समृद्ध नगरी को नष्ट-भ्रष्ट और तहस-नहस कर दिया था, जिससे यहाँ के निवासी हिन्दू और जैन नगर छोड़कर अन्यत्र बाहर भाग गये थे। सभी मंदिरों की मूर्तियों को तोड़-फोड़ दिया गया था। मुसलमानी तबारीख (इतिहास) 'ता जुल मासिर' में हसन निजामी ने लिखा है कि "हिजरी सन् 572 तदनुसार वि०सं० 1152 (1195 A.D.) में मुहम्मद गौरी ने त्रिभुवनगढ़ पर चढ़ाई कर इसे अपने अधिकार में ले लिया था और वहरुद्दीन तुघलिक (तुमरीन) को यहाँ का शासक नियुक्त किया था।" इसतरह त्रिभुवनगिरि के विनाश होने का समय सं० 1252 सुनिश्चित ही है, तो मुनि विनयचंद्र इससे पूर्व यहाँ अवश्य ही रहा करते होंगे। 'खरतरगच्छ युगप्रधान गुर्वावली' में त्रिभुवनगिरि का उल्लेख निम्न शब्दों में अंकित है "सं० 1214 श्री जिनचन्द्रसूरिभिस्त्रिभुवनगिरौ श्रीशान्तिनाथशिखरे सज्जन-मनो-मन्दिरे प्रमोदारोपणमिव सौवर्णादण्डकलश-ध्वजारोपण महता विस्तरेण कृत्वा हेमदेवी-गणिन्या प्रवर्तनी-पदं दत्त्वा.....।"

इस तरह उपर्युक्त प्रमाणों से मुनि विनयचंद्र का समय सं० 1210-15 के आसपास सुनिश्चित होता है। मुनि विनयचन्द्र ने 'चूनडीरासक' की स्वोपज्ञ टीका में 18 लिपियों का नामोल्लेख कर भाषावैज्ञानिकों को भाषा और लिपि के तुलनात्मक अध्ययन की अच्छी सामग्री प्रस्तुत कर दी है। इन लिपियों का उद्योतनसूरि कृत 'कुवलयमालाकहा' (7-8वीं सदी) में वर्णित देशी-भाषाओं के साथ तालमेल बिठाकर हमने निम्न तालिका तैयार की है। सुधी पाठक इसका विश्लेषण कर समुचित सुझाव प्रस्तुत करने का कष्ट करें। 5-6 लिपियों का तालमेल नहीं बैठ पा रहा है, अतः उनका उचित तालमेल बैठाने में सहयोग भी प्रदान करें।

भाषा और लिपियों के तालमेल की तालिका

क्र०सं०	‘कुवलयमालाकहा’ की देशी भाषायें	‘चूनडी रासक’ की लिपियाँ
1.	मागधी	उड़ीसी
2.	गोल्ला	—
3.	मध्यदेशीय	नागरी
4.	आन्धी	तिलंगी
5.	अन्तर्वेदी	—
6.	कौशली	—
7.	मालवी	मालवणी
8.	कर्नाटकी	कर्णाटी
9.	सिंधु	सिंधवी
10.	गुर्जर	—
11.	मरु	वाणिककी
12.	महाराष्ट्र	लाविणी
13.	ताजिक	जरकी
14.	टक्कु	फिडिकी
15.	कीर	कीरी
16.	रवस	—
17.	पारसी	पारसी
18.	वर्वर	राक्षसी

बाकी पाँच लिपियाँ (1) हंसलिपि, (2) भूतलिपि, (3) जउणी, (4) निभित्री और (5) द्रविडी बचती हैं। इनका तालमेल कहाँ बैठेगा, यह निर्णय सुधी पाठकों के पर छोड़ता हूँ। वैसे सम्पूर्ण तालिका में ही कहीं उलटफेर की जरूरत हो, तो मनीषी पाठक अपने सुझाव दे सकते हैं।

अथ चूनडी रासकं

विणयं वंदिवि पंचगुरु मोह महातम तोउण,
 दिणयरो णाह लिहावहि चूनडिया।
 युद्धउ पमणइं पिय जोडिवि कर ॥ विणयं० ॥
 पणविवि कुवलय-कोमल-णयणी, लोयालोय-पयासण-वयणी।
 पसीख सारद जौण्ह-जिम, अंधारउ सयलु णिणसइ।
 सा महु निवसउ माणुसहं हंसवह जिम देवि सरासइ। विणयं वंदिवि पंचगुरु ॥ 1 ॥

माथुरसंघहो उदय मुणीसरु पणेविवि बाल-इंदु गुरु गणहर ।
 जंपइ विणयमयंकु मुणि आगमु दूगमु जइ वि न जाणऊं ।
 मा लिज्जहु अवराहु महु भवियहुं यहु चूनडिय बखाणऊं ॥ 2 ॥
 हीरा दंति पति पयडंती गोरउ वोल्लइ पिय वियसंती ।
 सुंदर जाहि सुचेय रेह, महु दय किज्जउ सुह सलक्खण ।
 लइ छिपावहि चूनडिया, हऊं जिणसासणि सुद्ध वियक्खणि ॥ 3 ॥
 वल्लह जइ न लिहावण आवहिं छिंपु लडा महु वयण सुणावहिं ।
 तिण्णि लोय तिहुं तंगि जुया चउदह रज्जु लिहहिं ऊढन्ते ।
 सत्त रज्जु तलि सुरगिरिहिं उप्परि सत्त-सत्त पिंडन्ते ॥ 4 ॥
 मेरु महागिरि जंबूदीवहो खारसमुद्द परिट्टी सीमहु ।
 दीव समुद्द असंखगुणा मज्झलोय सत्तर सउ खेत्तइ ।
 सरिस तीस संकुल पव्वयहं अज्ज म्लेच्छ मोय महि जुत्तइ ॥ 5 ॥
 पुणु छणवइ कुभोय-धरालइं लवणकाल णामइं मयरालइं ।
 अवसप्पिणि उविसप्पिणिया छह-छह कालइं लिहहिं णिसत्तइं ।
 कोडाकोडि उसाय रहं एक्क एक्कदस दस पविहत्तइं ॥ 6 ॥
 चउदह कुलयरं जिण चउवीसहं, लिहि पुराण बारह चक्केसं ।
 वासुएव बलएव णव-णव पडिवासुएवं संचारहिं ।
 कामएव णारय सुमिरि पुणु एयारह रुद्द पयासहिं ॥ 7 ॥
 दंसणसुद्धि-पमुह अणुसरिय सोलहकारण लिहि जिण-वरियइं ।
 तिहिं भेयहिं सम्मत्तु लिहि सत्तभेय मिच्छत्तु संभरि ।
 पंच णाण अणाण तहा दंसण चारि पयत्तिं उद्धरि ॥ 8 ॥
 लिहि एयारह सावय-पडिमा, बारह भिक्खु-पडिम मुणि गम्मइ ।
 अट्टावीस वि मूलगुणा बारह-विहु चउदह विहु संजमु ।
 सहस-अट्टारह सीलु मणि पंचाचारु मवोसरि उत्तमु ॥ 9 ॥
 गुणहं लक्ख चउरासी टिप्पहि चउदह जीवसमास वियप्पहिं ।
 चउदह लिहि गुणठाण पुणु वीस परुवणं चउदह मग्गण ।
 छह पज्जंती पाण दह चारिवि गइ तहं सिद्ध णिरंजण ॥ 10 ॥
 णाणावरण पंच दुइ वेयण णव दंसण आवरण महाणवं ।
 अट्टावीस वि मोहणिय आव चारि दुइ गोत्त मछंडहि ।
 णाम पयडि तेणवइ पुणु, अंतराय पंच विलइ मंडहि ॥ 11 ॥
 णव पयच्छ सत्त वि लइ तच्चइं छह दव्वइं पंचत्थियकायइं ।
 दुइ पमाण णव मुणहि णया चारि वि णमइं जइ णिक्खेवहिं ।

मइ छत्तीसा तिण्णि सया बारसंग संठिवि संखेवइं ॥ 12 ॥
चउदह पुव्व पणमवि चउदहं अवहिणाणु जाणहि भेय छहं ।
लिहि संपुणु समोसरणु सत्त...यार संघु. जिणसमयहं ।
मणपज्जय दुइं भेय विउ तिण तिसट्ठि सयइं लिहि कुमयहं ॥ 13 ॥
लइ लेहणि महु वुत्तउ किज्जइं चूनडिया वढ मंडिवि दिज्जइ ।
सत्त सरीरइं चारिमणा चारिवि वयणइं पणरह जोयइं ।
पणरह लिहहि पमाय तुहुं चउदह मल परिहारइं तिच्छइं ॥ 14 ॥
गुत्तिउ सल्ल दंड तिहि भेयहिं, सोलहविह कसाय मा चेयहि ।
सुमारि असंजम संतेरहं णव कसाय णव जोणि लिहहि णव ।
छह लेसइं दह धम्म भूरि चारि सन्न मय सत्त ति गारव ॥ 15 ॥
चारि आणि चउभेयहिं कहियहि, सुमत्त दुगुण अट्ठवि कहियइ ।
लिहहि दोस पणवीस महो अट्ठविअ गइं स सरीरइं ।
विणउं विसेसहि पंचविहि, जं करेवि मुणि गय भवतीर हो ॥ 16 ॥
अट्ठोत्तर सउ हिंसाभेयहो, दइविहि सच्चु असच्चु विचारहि ।
बंधु पयासहिं भेय णव, बहिरंतर दस चउदस गंधइं ।
आयरियहं छत्तीस गुणा, अरे रे विणा णिय लिहि थिर-हत्थइं ॥ 17 ॥
बारह अणुवेहउ लिहि बंधकरु मुणिणा वीसय परिसह दुद्धर ।
तेतीसइं अच्चासणइं रयणत्तउं लिहि सिव-सुह-साहणु ।
अणुवय-गुण-सिक्खा-वयइ बारहविहि तउ सावय-धम्महं ॥ 18 ॥
किरिया तेवण इंगिहि धम्मइं तेरह रिसि धम्महं णि छम्मइ ।
पंचबीस लिहि वणइं, चारि समय तहु जीवहो जंतहो ।
अट्ठवि गुण देवत्तणहं, लिहि मिच्छत्त णंताणंतहं ॥ 19 ॥
सासण-गुण कोडि वावणइं मिस्स ठाण तेहु गुण पवणइं ।
सत्त कोडिसय सत्तमुणि तेरह कोडि उसावय ठाणइं ।
तिहि ऊणिय णवकोडि लिहि मुणिय एयारह गुण परियाणहि ॥ 20 ॥
इगु अडयाल सत्त उणहत्तरि पंच अट्ठ लिहि जिणहर अंतरि ।
चउदेवहं संघाय मुणि दसविह भावण वसुविह वितर ।
पंच पयारइं जोइंसियु बारह कप्पवासि लिहि सुरवर ॥ 21 ॥
पंचभाव णव लद्धि जिणिंदहं सत्त रिद्धि लिहि गणहर-विंदहं ।
पंचाचारइं दस विदिसि पवयणमाय अह दस मुंडण ।
चउ मंगल उत्तम सरण, पछइं चारि मण खंडण ॥ 22 ॥
तिणि काल किरिया पणवीसइं लिहि अंतयउ अणुत्तरदेसइ ।

आराहण भयवद् लिहहि ना चालीस हंसुत्तहं वद्धी ।
 पंच मरण जे तहिं कहिया चेषण तिहिं भेयहिं सुपसिद्धी ॥ 23 ॥
 पंच गिगंध सत्त-सिय-भंगइ णव-णिहि चउदह-रयण समगगइं ।
 बुद्धिउ चउ बलसत्त गुण दव्व सयज्जव गुण संभालहि ।
 आलोयण दस दोस लिहि थावर पय छज्जीव मचालहिं ॥ 24 ॥
 चउतीसइं लिहिअइ सइसारं छव्विह पुगगलु छह आहारइं ।
 छह संठाणइं संहणणा दसविह सणु सुद्धिउ लिहितहं ।
 अंतराय बत्तीस भणि विच्चावच्चु भत्ति दस दसविहु ॥ 25 ॥
 पंडियमरणु तिणि तिहुं जाणहि अट्टविवेय पंचकल्लाणइं ।
 दायारइं लिहि सत्तगुण, छिंपहि अट्टसुद्धि हयभावइं ।
 सत्तर सय उवेयट्ट गिरिपुरउ दहोत्तर सउ खगवासइं ॥ 26 ॥
 कप्पवासि पडुल तेसट्टिवि लिहि अक्खर पूरिवि चउसट्टिवि ।
 पंच वरण छह रस गणहिं सत्त विसर दुइ गंध णिरुत्तइं ।
 अट्ट फरसि चउ दाण पुणु अट्टावीसइं विसय समप्पहि ॥ 27 ॥
 पाडिहेर (प्रातिहार्य) अट्टवि जिणइं दह पडिलेहणे गुण पंच मुणिंदहं ।
 पंच अट्ट सय पंच तिया अट्टावीस इगारह अक्खिय ।
 अंगइ पुव्व पयणियइं चउदह गुण सोयारम संकिय ॥ 28 ॥
 लिवि अट्टारह कला वहत्तरि चउसट्टि वि विणाण भणंतरि ।
 रिउ छह बारह बाहर मास लिहि पुढवि भेय छत्तीस विसेसहि ।
 सत्तवीस अणगार-गुण जिणहर सहसकूट महु हरेसहिं ॥ 29 ॥
 सत्ता उदय उदीरण कम्महं लिहिस विसेस विहिय जिणघम्महें ।
 एत्तिउ लिहिवि समप्पियउं मुद्धउ घरि गय उट्टिय चुणियं ।
 विणयचंदमुणि वयण सुणि उत्तम सावय वयणु छणियं ॥ 30 ॥
 तिहुवणगिरिपुर जगि विक्खायउं सगग खंडु णं धरियल आयउं ।
 तहि णिवसंतय मुणिवरिणा अजय-णंरिदहं रायविहारी ।
 वेगिं विरइय चूनडिया सोहहो मुणिवर जे सुवसारा ॥ 31 ॥
 इय चुनडिय मुणिंद पयसियं संपुंणी जिण आगम-भासियं ।
 पढहिं गुणहिं जे सद्दहहिं ते पावहिं राय सुक्ख-निहाणइं ।
 भवसायरु भवियण तिरहिं मौक्ख सौक्खु ते णर पावहिं ॥ 32 ॥
 ॥ इति श्री विणयचंद मुणि कृतं चूनडी रासकं समाप्तं ॥

नोटः— इस कृति का रचनाकाल सं० 1210-15 के लगभग होना चाहिये, क्योंकि सं० 1455 में लिखे गुटके में यह रचना विद्यमान है ।

अपभ्रंश के आद्य महाकवि स्वयंभू एवं उनके नारीपात्र

—प्रो० (डॉ०) विद्यावती जैन

यद्यपि वाल्मीकि द्वारा चित्रित नारी-पात्र आगे के अनेक लेखकों के लिए प्रकाश-स्तम्भ बने; फिर भी जैन-लेखकों ने उसका अन्धानुकरण नहीं किया, बल्कि अपनी स्वतन्त्र विचारधारा, श्रमण-परम्परा और युग-प्रभाव आदि का पुट देकर उन्हें कुछ विशिष्टगुणों से अलंकृत किया। श्रमण-साहित्य विशेषतः 'पउमचरिउ' के नारी-पात्रों को देखें, तो श्रमणोत्तर-साहित्य के नारी-पात्रों से उनके स्वतन्त्र आत्म-विकास के वैशिष्ट्य की सीमा-रेखा स्पष्ट अंकित की जा सकती है।

नारी-पात्रों के विविधरूप मुखरित करने में कवि स्वयंभू को बड़ी सफलता मिली है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसे विभिन्न वर्ग की नारियों की मनोदशा का तलस्पर्शी ज्ञान था; अतः उसने जिस नारी का भी चित्रण किया, वह सांगोपांग बन पड़ा है। वे ऐन्द्रजालिक अथवा काल्पनिक नहीं, बल्कि हमारे बीच के सांसारिक-यथार्थ प्राणी जैसे ही हैं; जिनमें भद्रता, अभद्रता अथवा उसके मिश्रितरूप का दर्शन सहज-सुलभ है। परिस्थितियाँ एवं वातावरण नारी में कितना परिवर्तन ला सकते हैं? —यह स्वयंभू के नारी-पात्रों से स्पष्ट है।

स्वयंभू ने नारी-पात्रों के स्वाभाविक अवगुणों की अवतारणा भी की है, किन्तु अंत में उन्होंने उन्हें भी परिस्थितियों की कसौटी पर कसकर तथा उनका हृदय परिवर्तित कर उन्हें भी उच्चपद पर प्रतिष्ठित किया है। अपभ्रंश-साहित्य के क्षेत्र में नारी के लोकमंगल की यह कल्पना कवि स्वयंभू की संभवतः अपनी ही मौलिक देन है, जो श्रमणोत्तर-परम्परा में दुर्लभ है। स्वयंभू की यह प्रेरक परम्परा परवर्ती अपभ्रंश-कवियों के लिए भी आदर्श बन गई। इन तथ्यों के आलोक में कवि के 'पउमचरिउ' में वर्णित कुछ प्रमुख-नारी-पात्रों के चरित्रों का यहाँ विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है:—

1. सीता:—स्वयंभू की सीता सौन्दर्य में अद्वितीय है। कवि ने उसके नख-शिख का हृदयावर्जक वर्णन किया है। उसके अनुसार सीता की काया विद्युल्लता की आभा के समान उज्ज्वल¹ है और उसके अंग-प्रत्यंगों की संरचना अत्यन्त ही सुडौल एवं सुगठित है। अनिन्द्य सौन्दर्यवती होने पर भी कवि ने उसके सौन्दर्य-चित्रण में कामोत्तेजक तथा अश्लील उपमायें नहीं दी हैं। उसने केवल उसके सौन्दर्य के प्रभाव का ही सन्तुलित भाषा में चित्रण किया है।

किन्तु सौन्दर्य कभी-कभी अभिशाप का कारण बन जाता है। जिस समय सीता वनवास में राम के साथ विन्ध्य-प्रदेश की घनी अटवी में भटकती है, तब अचानक ही

विन्ध्य का राजा रुद्रभूति उसके सौन्दर्य से आकृष्ट होकर उसके अपहरण-हेतु अपनी सेना भेज देता है।² उस अवसर पर यदि लक्ष्मण अपना क्षात्र-तेज न दिखाते, तो सीता का अपहरण सम्भवतः उसी समय हो जाता।

व्यक्ति साधारणतया दुर्भाग्य को जीवन का बड़ा भारी अभिशाप मानने लगता है, किन्तु महाकवि स्वयम्भू ने सीता के ऊपर घोर विपत्तियों के समय भी यह उक्ति लागू नहीं होने दी है। लोकदृष्टि में यद्यपि सीता अभागी है, किन्तु उसका यह दुर्भाग्य भी पुरुषार्थ का ही द्योतक है। यह बात सही है कि वह विवाह के बाद किंचित् भी वैवाहिक-सुख नहीं भोग सकी। यहाँ तक कि विवाह की प्रथम वर्षगांठ भी नहीं मना सकी, क्योंकि उसके पूर्व ही उसे वनगमन करना पड़ा; फिर भी वह अपने दुर्भाग्य को कोसती नहीं, बल्कि आगत पीड़ाओं एवं विपत्तियों को वह पूर्वजन्मकृत कर्मों का ही फल मानकर उन्हें धैर्यपूर्वक सहती है। वह स्पष्ट कहती है—“एयई दुक्कियकम्महो फलई।”³

जहाँ तक समकालीन-समाज में नारी के गुणों का प्रश्न है, उनमें भी सीता को कवि ने सर्वोच्च आसन पर विराजमान किया है। एक प्रसंग में कवि ने उसे नृत्यकला में प्रवीण बतलाया है। जिस समय राम, लक्ष्मण एवं सीता—तीनों मिलकर कुलभूषण, देशभूषण मुनिराज की वन्दना के लिए जाते हैं, तब उनकी तपःपूत साधना से अत्यन्त प्रभावित होकर राम ‘सुघोषा’ नामक वीणा का वादन करने लगते हैं और उसकी संगत में लक्ष्मण भी शास्त्रीय संगीत प्रारम्भ करते हैं, जिसमें सात स्वर, तीन ग्राम, एवं अन्यान्य स्वरभेद रहते हैं। मूर्च्छना के 21 स्थान और 49 स्वरतानें रहती हैं। उनकी तालों पर सीता नृत्य करती है। अपनी नृत्यक्रिया में सीता नौ रस, आठ भाव, दश दृष्टियों एवं 22 लयों का सुन्दर प्रदर्शन कर सभी को प्रभावित करती है।⁴ महाकवि स्वयम्भू का सीता की कला-प्रवीणता-सम्बन्धी प्रसंग सर्वथा मौलिक है। अन्य श्रमणेतरे रामायणों में यह प्रसंग उपलब्ध नहीं होता। इसमें सीता के माध्यम से कवि ने समकालीन संगीत एवं नृत्यकला के विकसितरूप का संक्षिप्त विश्लेषण तो किया ही, साथ ही अपनी संगीतज्ञता का भी परिचय दिया है।

सीता यद्यपि नवविवाहिता है। प्रसूति-पीड़ा अथवा पारिवारिक या दाम्पत्य-सुख के अनुभव के पूर्व ही उसे वनवास भोगना पड़ता है; फिर भी नारीसुलभ मातृत्व गुण उसमें प्रारम्भ से ही समाहित है। उसका हृदय नवनीत के सदृश कोमल, सरल, निष्पक्ष एवं निष्कपट है। वनवास के समय लक्ष्मण द्वारा भूल से जब चन्द्रलेखा के तपस्थारत पुत्र शम्बूक का वध हो जाता है, तब सीता शोकविह्वल हो उठती है और उसका मातृत्व-गुण जाग उठता है, जो उसके विराट् व्यक्तित्व के सर्वथा अनुकूल ही है। वह उसके वध से उसी प्रकार पीड़ित हो उठती है, जैसे स्वयं उसके पुत्र की ही किसी ने हत्या कर दी हो।⁵

सीता एक ओर जहाँ मातृत्व गुणों से भरपूर एवं अत्यन्त सुकोमल-हृदया है, वहीं

दूसरी ओर वह अपने पातिव्रत्य एवं शील-सदाचार की सुरक्षा के लिए अडिग, अकम्प एवं कठोर पाषाण की तरह भी है। 'नन्दनवाटिका' में मन्दोदरी जब रावण के राज्य-वैभव एवं ऐश्वर्य-सुखों का प्रलोभन देती हुई रावण को अपने प्रियतम के रूप में स्वीकार करने हेतु सीता से अनुरोध करती है, तब सीता बड़ी ही निर्भीकतापूर्वक रावण को तुच्छ बतलाकर मन्दोदरी की घोर भर्त्सना करती है और उसे फटकारती हुई कहती है—“तुम अपने पति के लिए दैत्य-कर्म करके, मुझे फुसला रही हो। प्रतीत होता है कि तुम स्वयं भी किसी परपुरुष में आसक्त हो⁶।” मन्दोदरी के असफल हो जाने पर जब रावण स्वयं ही सीता के पास जाकर उसे तरह-तरह के प्रलोभन देता है और राम को तुच्छ एवं अधम सिद्ध करने का प्रयत्न करता है, तब सीता का शील-तेज भड़क उठता है और वह तमककर उसे उत्तर देती है—“अरे ! तू मुझे अपना ऋद्धि-वैभव क्या दिखलाता है? सुन ले, वह तो मेरे लिए तृण के समान तुच्छ है। तेरा सुन्दर एवं समृद्ध राज्य मेरे लिए यमशासन की तरह है। तेरा राजकुल मेरे लिए भयावह श्मसान के समान है, तथा तेरा यौवन मेरे लिए विष-भोजन के समान है।⁷ तेरे उस ऐश्वर्य-वैभव से क्या लाभ, जहाँ सन्नारियों के शील एवं चरित्र के खण्डित होने की आशंका हो?” सीता के इस दृढ़ शीलव्रत की प्रशंसा में रावण की पट्टरानी एवं दासियाँ स्वयं प्रशंसा करती हैं।

सीता कष्ट-सहिष्णु है। अपहृत होने के बाद वह 21 दिन तक निराहार रह जाती है। वह प्रतिज्ञा करती है कि जब तक उसके प्रियतम (राम) का उसे कोई समाचार नहीं मिलेगा, तब तक उसके आहार-जल का त्याग है। वह रावण एवं उसकी दासियों द्वारा दिए गए कष्टों को बड़े धैर्य और साहस के साथ सहन करती है।

वियोगिनी सीता पर हृदयवेधी अपमानजनक शब्दवाणों की घनघोर वर्षा तथा कल्पनातीत विपत्तियों की बौछारों के बीच भी उसके धैर्य एवं साहस को देखकर पवनपुत्र हनुमान स्वयं भी आश्चर्यचकित हो जाते हैं तथा वे उसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—“घोर विपत्तियों में प्राणान्त होने की स्थिति आने पर भी इस सीता ने असीम धैर्य धारण किया है। महिला होकर भी इसमें जितना साहस है, उतना पुरुषों में भी नहीं।⁸”

विरहिणी सीता नन्दनवन में जब राम की स्मृति में पीड़ित एवं अर्द्धमूर्च्छित रहती है, उसी समय हनुमान प्रच्छन्न रहकर सीता की गोद में राम की नामांकित मुद्रिका गिराते हैं।⁹ पूर्व में तो वह उसे इन्द्रजाल की तरह ही प्रतीत होती है, किन्तु बाद में जब उसे उसकी यथार्थता का पूर्ण विश्वास होता है, तब वह स्पष्ट कहती है कि “जो भी हितैषी राम की इस अंगूठी को लेकर यहाँ आया है, वह मेरे सामने साक्षात् उपस्थित हो।” उसका कथन सुनकर हनुमान उसके सम्मुख प्रकट हो जाते हैं और सीता को त्रस्त करनेवाली रावण की दूतियों को दूर हटाकर वे राम का कुशल वृत्तान्त कहकर सीता से राघव के पास चलने का निवेदन करते हैं¹⁰। इस प्रसंग में सीता ने जो उत्तर दिया वह

भारतीय शील एवं पातिव्रत्य के इतिहास का एक अत्यन्त रोचक एवं अद्भुत उदाहरण है। विरह-सन्तप्त सीता यद्यपि अत्यन्त दुःखी है, किन्तु वह परपुरुष के स्पर्श की भी कल्पना से अतिदूर एवं अत्यन्त स्वाभिमानिनी महिला के रूप में उपस्थित होती है। वह हनुमान से कहती है:—“गुणविहीना बहू ही परपुरुष के साथ जा सकती है, कोई कुलवधू नहीं; क्योंकि यह रघुकुल-परम्परा के सर्वथा विपरीत है। हे वत्स ! यदि अपने कुलगृह भी जाना हो, तो भी उसे पति के बिना जाना अयुक्त है; क्योंकि जनपद के लोग प्रायः निन्दाशील, स्वभावदुष्ट एवं कलुषित मनवाले होते हैं। जहाँ जो बात नीतिविहीन होती है, वे तत्काल ही आशंका कर उसकी निन्दा करना प्रारम्भ कर देते हैं। अतः निशाचर दशानन के वध के पश्चात् ‘जय-जय’ शब्द होने पर मैं श्री राम के साथ ही अपने जनपद जाऊँगी। उनके बिना मैं नहीं जा सकती। हाँ, तुम इतना अवश्य करो कि राम की जानकारी के लिए मेरा यह ‘चूड़ामणि रत्न’ उन्हें अर्पित कर देना¹¹।”

व्यक्ति के धैर्य की भी एक सीमा होती है। निरन्तर घात-प्रतिघातों के मध्य धैर्य भी जब धैर्यविहीन हो सकता है, तब सीता केवल एक नारी थी। जब लंका-विजय के पश्चात् राम-लक्ष्मण एवं सीता के साथ अयोध्या वापस आ जाते हैं, किन्तु कुछ दिनों के बाद लोकापवाद के कारण राम सीता को वन में निर्वासित कर देते हैं। संयोग से पुण्डरीकनगर का राजा वज्रसंघ अपनी ‘धर्मबहिन’ मानकर उसे अटवी से अपने राजभवन में सादर ले आता है¹²। कालान्तर में सीता को लाने हेतु राम विभीषण, अंगद, सुग्रीव एवं हनुमान को भेजते हैं। उन्हें देखते ही सीता का धैर्य कुछ क्षणों के लिए टूट जाता है। और वह तीव्र शब्दों में राम की कटु आलोचना करने के लिए विवश हो जाती है। वह कहती है—“मेरे सामने पाषाण-हृदय राम का नाम मत लो। उनसे मुझे कभी सुख नहीं मिला। चुगलखोरों के कहने पर उन्होंने मुझे जो आघात पहुँचाया है, उसकी जलन सैकड़ों मेघों की वर्षा से भी शान्त नहीं हो सकती¹³।”

आगे चलकर सीता का रूप और भी अधिक उग्र हो उठा है। वह वस्तुतः दीर्घकाल से संचित मनस्संताप एवं उत्पीड़न का ही परिणाम था, जिसका बाँध राम को देखते ही टूट पड़ा है। परवर्ती प्राचीन भारतीय वाङ्मय में भारवि की द्रौपदी के भाषण के अतिरिक्त इतना तेजस्वी भाषण अन्यत्र उपलब्ध नहीं। अपभ्रंश-साहित्य में तो यह भाषण प्रथम एवं अन्तिम ही है। दीर्घविधि के बाद जब राम सीता के सम्मुख आते हैं, तब सीता को तो उनसे यही आशा थी कि उसके प्रियतम उसके आँसू पोंछकर स्नेह-सिक्त वाणी में उसकी कुशलता पूछेंगे, किन्तु उसकी कल्पना के सर्वथा विपरीत राम व्यंग्य-भरे शब्दों का प्रयोग करते हैं।

सीता राम के इस व्यंग्यवाण से मर्माहत अवश्य हुई, किन्तु उसका स्वाभिमान उस अपमान को सहन नहीं कर सका। अतः वह भी राम की भाषा के समानान्तर ही उत्तर

देती है।¹⁴ इस प्रसंग में ऐसा प्रतीत होता है, जैसे स्वयंभू की सीता युगों-युगों से मानव द्वारा प्रताड़ित होने वाली समस्त महिला-समाज की प्रतिनिधि होकर सारे पुरुष समाज को यह घोषणा कर रही हो कि 'नारी पुरुष की दासी नहीं, अब वह पुरुष-प्रदत्त यातनाओं एवं अन्याय-अत्याचारों को अधिक समय तक सहन नहीं कर सकती। उसे उनके प्रतिरोध का पूर्ण अधिकार है।'

सीता के चरित्र में यह प्रसंग एक दूषण के रूप में प्रयुक्त माना जा सकता है; क्योंकि जो सती शीलवती हो, अपने प्रियतम के विछोह में जिसने जीवन के सुखों की कल्पना का भी परित्याग कर दिया हो; वही चिरकाल के बाद अपने प्रियतम से प्रथम मिलन की बेला में इतना आक्रोश दिखाए—यह उसके व्यक्तित्व के सर्वथा प्रतिकूल प्रतीत होता है; किन्तु इस प्रसंग में ऐसा प्रतीत होता है कि कवि स्वयंभू ने समकालीन महिला समाज की स्थिति पर प्रकाश डालने का अवसर निकाला है। और सीता के माध्यम से उन्होंने उसका स्पष्ट विश्लेषण किया है।

निर्वासित सीता जब लौटकर अयोध्या वापस आती है, तब वह अपने शीलभंग की आशंका का निराकरण किए बिना नगर-प्रवेश नहीं करती। वह नगर के बाहर उसी उपवन में बैठ जाती है, जहाँ से राम ने उसे निर्वासित किया था।¹⁵ वह जीवन की सबसे कठोर परीक्षा—अग्निपरीक्षा देकर अपने प्रियतम राम के मन की ही नहीं, अपितु समस्त जनपद के लोगों की शीलभंग-सम्बन्धी आशंका को भी निर्मूलकर देना चाहती है। अतः वह 'पंच नमस्कार मन्त्र' का स्मरण करती हुई प्रज्वलित अग्निचिता में प्रवेश कर जाती है। यह उसके शील का ही प्रभाव है कि वह चिताग्नि शीतल-जल में परिवर्तित हो जाती है। और उससे सभी उपस्थित नर-नारी उस दृश्य से प्रभावित होकर उसके चरित्र के निष्कलंक होने की घोषणा करते हैं।¹⁶

अग्निपरीक्षा के बाद राम सोचते हैं कि अब उनके एवं सीता के पूर्वकृत दुष्कर्मों का शमन हो गया है और सीता के साथ उनका शान्ति एवं समता का जीवन व्यतीत होगा; किन्तु अब दूसरी ही स्थिति उत्पन्न हो जाती है। सीता भौतिक-सुखों की क्षणिकता एवं सांसारिक मायाजाल की निस्सारता का अनुभव कर उनसे निर्लिप्त हो जाती है। उसके सम्मुख संसार की अनित्यता साकार हो चुकी थी। अरि-मित्र, महल-मसान एवं कंचन-काँच के प्रति उसके मन में कोई भेदभाव नहीं रह जाता है। शीघ्र ही वह सांसारिक-सुखों से विरत होकर 'आर्यिकाव्रत' स्वीकार कर लेती है और घोर तपस्या में लीन होकर स्वतन्त्र आत्म-विकास की प्रक्रिया में लीन हो जाती है।¹⁷

इसप्रकार स्वयंभू की सीता कष्टसहिष्णु, कर्मसिद्धान्त में विश्वास रखनेवाली, शीलरक्षा में कठोर, अत्यन्त निर्भीक एवं साहसी, लोककलाओं में प्रवीण, कोमल-हृदया, स्वाभिमानिनी तथा संसार की क्षणिकता देखकर वैराग्य धारणकर स्वतन्त्र आत्मविकास

की प्रक्रिया में विश्वास रखनेवाली आदर्श नायिका है।

जब हम सीता-विषयक श्रमणेतर-साहित्य को देखते हैं, उसमें कुछ प्रसंगों में मौलिक अन्तर दृष्टिगोचर होता है। यह अन्तर वस्तुतः विचारभेद अथवा दृष्टि-भेद के कारण ही है। यथा—‘वाल्मीकि रामायण’ में सीताहरण के प्रसंग में बतलाया गया है कि वह एक स्वर्ण-मृग को देखते ही उस पर आकर्षित हो जाती है और उसके स्वर्णाभ-चर्म की उपलब्धि के लिए वह राम को उसके वध के निमित्त भेजती है। किन्तु श्रमण-परम्परा की सीता अपने मनोविनोद तथा अपने शरीरसुख के लिए किसी निरपराध प्राणी की हिंसा कराये—यह उसके लिए सम्भव नहीं; अतः स्वयम्भू ने सीताहरण के प्रसंग में घटना को अहिंसक मोड़ दिया है।

शम्बूक की मृत्यु के पश्चात् जब लक्ष्मण खर-दूषण के साथ युद्ध कर रहा था, तभी रावण ने राम को भ्रम में डालने के लिए अपनी ‘अवलोकिनी विद्या’ के द्वारा सिंहनाद करवा दिया। राम ने उसे लक्ष्मण का आर्तस्वर समझा और वे सीता को अकेली छोड़कर लक्ष्मण की सहायतार्थ पहुँच जाते हैं और इधर अक्सर पाते ही रावण सीता का अपहरण कर ले जाता है।¹⁸

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि श्रमणेतर रामकथाओं में सीताहरण से पूर्व सीता लक्ष्मण के प्रति लांछनापूर्ण कठोर शब्दों का प्रयोग कर उसे अपमानित करती है, किन्तु श्रमण-लेखकों ने सीता के इस प्रकार के स्वभाव का भूलकर भी उल्लेख नहीं किया।

कैकेयी:—कैकेयी राजा दशरथ की पत्नी एवं भरत की माता है। उसका चरित्र अन्य रामकथाओं में आदि से अन्त तक निन्दित एवं गहिँत कोटि का चित्रित किया गया है। महाकवि स्वयम्भू ने भी प्रारम्भ में कुछ वैसा ही चित्रित किया है, किन्तु बाद में उसे ऊँचा उठाने का प्रयास किया है। उसका चरित्र कैसा ही रहा हो, किन्तु समीक्षा की दृष्टि से वह इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि रामकथा के विकास में इस पात्र का अद्भुत सहयोग रहा है। यदि नारी-पात्रों में कैकेयी का सृजन न किया जाता, तो रामकथा सम्भवतः सीता-स्वयंवर तक ही सीमित होकर एक सामान्य पुराण एवं धर्मकथा मात्र रह जाती। ‘पउमचरिउ’ में उसे राजनीति-चतुर, साहसी, वीरांगना, विचारपटु, सुअक्सर से लाभ उठानेवाली एवं परिस्थितियों से प्रेरित माता के रूप में अंकित किया गया है।

अपने विवाह के बाद उत्पन्न स्थिति से अपने प्रियतम राजा दशरथ के रथ को हाँककर तथा विषमताओं के मध्य वह अपनी निर्भिकता, पराक्रम एवं कला-कौशल दिखलाकर प्रियतम से दो वरदान प्राप्त करती है और उन्हें उन्हीं के पास धरोहर के रूप में छोड़ देती है।

राम के राज्याभिषेक की बात को सुनकर कैकेयी का मन भावी आशंका से व्याकुल हो उठता है। वह सोचने लगती है कि कहीं उसका पुत्र भरत राजगद्दी से वंचित न रह

जाय और राम के सेवक के रूप में ही उसे जीवन-यापन न करना पड़े; अतः वह दशरथ के पास पूर्व-सुरक्षित वरदानों की मांग करके राम को वनवास एवं भरत को राजगद्दी देने का प्रस्ताव करती है। अन्ततः वह अपने प्रयास में सफल भी हो जाती है।

सम्पूर्ण राम-कथा में कैकेयी ही एक ऐसी पात्र है, जिसके माध्यम से कवि ने तत्कालीन एक पारिवारिक स्वार्थ-लिप्सा, ईर्ष्या, विद्वेष एवं कलहकारी वृत्ति को अभिव्यक्त किया है। यद्यपि वह रघुकुल के लिए अशुभ-नक्षत्र के रूप में उभरकर सम्मुख आती है,¹⁹ फिर भी आगे चलकर वह भी महाकवि की सहानुभूति अर्जित कर लेती है। शीघ्र ही उसका विवेक जागृत होता है और वह अपने दुष्कृत्यों का पश्चात्ताप ही नहीं करती, अपितु संसार के क्षणिक सुखों से वैराग्योन्मुख होकर वह 'आर्यिका व्रत' धारण कर लेती है और अपने व्यक्तित्व को स्वतन्त्र आध्यात्मिक विकास में लगाकर सद्गति प्राप्त करती है।

चन्द्रनखा:—चन्द्रनखा रावण की छोटी बहिन एवं पाताल-लंकेश्वर खर-दूषण की पत्नी है। वह जाति से निशाचरी है। जहाँ वह शारीरिक दृष्टि से सुन्दर एवं सुडौल है, वहीं अत्यन्त कुलक्षणी एवं मायाविनी भी।²⁰

जिस समय उसके इकलौते पुत्र शम्बूक का वध हो जाता है, उस समय उसकी जननी होने के कारण चन्द्रनखा गगन-भेदी रुदन करती है। उस अवसर पर उसका यह रुदन स्वाभाविक ही है; किन्तु जैसे ही वह आततायी वधिक—लक्ष्मण का पता लगा लेती है, तो वह उसके (लक्ष्मण) के युवकोचित रूप-सौन्दर्य को देखकर अपने मन का सारा दुःख भूल जाती है और वह उस पर कामासक्त हो जाती है। कामासक्ति की इसी प्रेरणा से वह राम-लक्ष्मण से अपने साथ विवाह का प्रस्ताव भी रखने की धृष्टता करती है। जब राम-लक्ष्मण उसके प्रस्ताव को ठुकरा देते हैं, तब कामासक्ति के कारण वह विक्षिप्त होने लगती है। उसकी यह कामासक्ति उस चरमकोटि तक पहुँचती है, जहाँ नारी अपना विवेक खोकर विक्षिप्तावस्था में अपने ही शरीर को नोंच-खसोट लेती है।²¹

महाकवि स्वयम्भू ने चन्द्रनखा को उसी विक्षिप्तावस्था में छोड़कर उसके चरित्र की इतिश्री नहीं कर दी। आगे चलकर उसने उसके चरित्र को उन्नत करने का प्रयत्न भी किया है। परिस्थितियों के आरोह-अवरोह में उसका विवेक शीघ्र ही जागृत होता है। वह अपने दुष्कृत्यों पर स्वयं पश्चात्ताप करती है और संसार की क्षणिकता का ध्यान कर 'आर्यिका व्रत' ग्रहण करती है और कठोर तपश्चर्या करती हुई सद्गति प्राप्त करती है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि 'पउमचरिउ' के प्रणेता ने पर-महिला-स्पर्श के त्याग तथा अहिंसा की परम्परा को ध्यान में रखते हुए श्रमणेतरी कवियों की तरह लक्ष्मण द्वारा चन्द्रनखा के नाक-कान नहीं कटने दिए। इतना अवश्य है कि चन्द्रनखा के दुर्व्यवहार से जब लक्ष्मण को क्रोध आ जाता है, तब वह अपने अंगूठे से बन्दमुख 'सूर्यहास खड्ग' को दबाकर उत्तेजित कर बैठता है।²² फिर भी विवेक उसका साथ नहीं छोड़ता और वह

कहता है कि—“यह वही ‘सूर्यहास खड्ग’ है, जिसने तुम्हारे पुत्र के प्राणों को हर लिया है। यदि कोई मनुष्य तुम्हारी ओर से रणभार उठाने में समर्थ हो, तो उसके लिए यह धर्म का हाथ बढ़ा हुआ है।”²³

शील-स्थापत्य की दृष्टि से ‘पउमचरिउ’ में कैकेयी के बाद एक ऐसी पात्र चन्द्रनखा ही है, जिसने कथा के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। यही वही पात्र है, जिसने विविध घटनाओं के तान-वितान बुनकर रावण जैसे वीर एवं पराक्रमी योद्धा को भी उत्तेजित किया और ‘पउमचरिउ’ में उसे एक प्रतिनायक के रूप में प्रस्तुत होने का अवसर प्रदान किया। वस्तुतः रामकथा का मध्य एवं अन्त-भाग चन्द्रनखा की ही देन है। उसके अभाव में न तो रावण द्वारा सीताहरण की ही सम्भावना थी और न ही ‘लंकाकाण्ड’ की सर्जना ही हो पाती। उसके अभाव में रामकथा एक रस-कथा रहकर धर्मपुराण का रूप अवश्य ले लेती, किन्तु वह एक लोकप्रिय जन-साहित्य के रूप में उभरकर आबाल-वृद्ध, नर-नारियों के कण्ठ का हार कभी नहीं बन पाती।

मन्दोदरी:— मन्दोदरी स्वयम्भू की दूसरी ऐसी प्रमुख नारी-पात्र है, जिसके माध्यम से स्वयम्भू ने महिला-समाज के गुण-दोषों की प्रभावक समीक्षा की है। कवि ने उसे एक अद्भुत सुन्दरी के रूप में चित्रित कर यद्यपि उसके सौन्दर्य को निर्दोष बतलाया है²⁴; किन्तु जिनशासन में सुसंस्कृत रहकर भी अपने प्रियतम रावण की प्रेरणा से वह सीता को रावण की ओर उन्मुख करने हेतु वियोगिनी सीता के पास नन्दन-वाटिका में जाती है।²⁵ यह उसके पति-परायण होने का ही उदाहरण है।

मन्दोदरी स्वभावतः उग्र एवं हठी है।²⁶ जिस समय वह सीता के सम्मुख रावण की प्रशंसा कर, राम एवं लक्ष्मण को तुच्छ बतलाती है और सीता उसके उत्तर में अपने पति की प्रशंसा करती हुई उसके साथ रावण की भर्त्सना करती है²⁷; तब क्रोधानल में दग्ध मन्दोदरी कहती है—“अरी ! तू, अभी मर। कहाँ तो शक्तिशाली और सौन्दर्य-सम्पन्न रावण और कहाँ तेरे तुच्छ वनवासी जंगली राम और लक्ष्मण। तू रावण से बचकर नहीं जा सकती। अब तू अपने इष्टदेव का स्मरण कर, तुझे मेरे सिवा अन्य कोई बचा नहीं सकता।”²⁸ अब तेरा माँस काट-काट कर व्यन्तरो को दे दिया जायगा और तेरे नाम की रेखा तक मिटा दी जायगी।²⁹ यद्यपि स्वयम्भू की यह उक्ति पुनरुक्त हो गई है; क्योंकि मन्दोदरी ने सीता को धमकी देते हुए पूर्व में भी इसीप्रकार के कर्कश वचनों का प्रयोग किया है।³⁰ किन्तु प्रतिभासित होता है कि मन्दोदरी की उग्रता को तीव्रता देने के लिए ही कवि ने ऐसा किया है। फिर भी कवि की उसके प्रति पूर्ण सहानुभूति है, अतः वह शीघ्र ही उसकी विचारधारा में सुधार भी करवा देता है। कवि जिस तीव्रता के साथ उसकी उग्रता एवं हठधर्मिता का चित्रण करता है, उसी तीव्रता के साथ वह उसमें क्रमिक विचार-

परिवर्तन भी करा देता है।

जब मन्दोदरी सीता को अपने पति के प्रति पूर्ण समर्पित एवं घोर विपत्तिकाल में भी शील के प्रति अडिग देखती है, तब वह उससे प्रभावित होती है और उसके अन्तस्तल में निहित शील-संस्कार जागृत हो उठता है। वह सीता के प्रति अपने द्वारा किये गए दुर्व्यवहार के कारण आत्मगर्हा कर रावण की कुत्सित-भावनाओं के प्रति विद्रोह कर उठती है एवं उसे भला-बुरा कहकर समझाने का प्रयास करती है तथा सीता को वापिस भेज देने की प्रार्थना करती है।³¹ इसप्रकार से मन्दोदरी के चरित्र को दूषण से बचाकर उसे पाठकों की सहानुभूति अर्जित करने का अच्छा अवसर प्रदान किया है।

राम-रावण के भीषण युद्ध में अन्ततः राम की विजय होती है और रावण का वध। सीता को तो रावण के कारागार से मुक्ति मिल जाती है, किन्तु मन्दोदरी पर वज्रपात हो जाता है। वैधव्य उसके पल्ले पड़ता है। अपने परिकर में जब वह विधवा के रूप में प्रस्तुत होती है, तब सारा वातावरण शोक से भर जाता है।³² यहाँ पर कवि ने मन्दोदरी के चरित्र को पुनः ऊपर उठाने का प्रयास किया है। उसके अनुसार राम एवं रावण की परिस्थितियों का गहन चिन्तन करने के बाद मन्दोदरी के सामने संसार की विचित्रता एवं अनित्यता स्पष्ट हो जाती है। फलस्वरूप वह वैराग्योन्मुख होकर 'आर्यिका व्रत' धारण कर लेती है।³³

इसप्रकार मन्दोदरी का चरित्र विविधताओं से परिपूर्ण है। एक ओर वह पति की प्रसन्नता के लिए दौत्य-कर्म करती है, तो दूसरी ओर वह अपने ही पति की कुत्सित भावनाओं का प्रतिरोध भी। क्योंकि उसकी दृष्टि में जब शासक ही भक्षक बन जायगा और यदि वह स्वयं ही नीति-विधान के विपरीत आचरण करेगा, तब समाज एवं राष्ट्र की सुरक्षा कैसे सम्भव हो सकेगी?

लंकासुन्दरी:—वीर वज्रायुध की पुत्री लंकासुन्दरी का चित्रण एक तेजस्विनी तथा अदम्य वीरांगना के रूप में हुआ है।³⁴ इस चरित्र की विशेषता यह है कि यह एक सौन्दर्यवती किन्तु अविवाहिता युवती है। वह अस्त्र एवं शस्त्र दोनों में ही निपुण है। वह अपने पिता की भक्ति एवं सेवा के लिए इतनी अधिक समर्पित है कि लंका में प्रवेश करते समय हनुमान के द्वारा पिता की हत्या देखकर उसका शौर्य भड़क उठता है और वह खड्ग लेकर हनुमान को न केवल ललकारती है, अपितु रणचण्डी का वेश धारणकर युद्ध में हनुमान को चुनौती देकर उनसे टकरा भी जाती है और अनेक विषम-शस्त्रों का प्रयोग कर उनका कवच भी नष्ट-भ्रष्ट कर डालती है। वीर हनुमान इस कुमारी युवती के कल्पनातीत पराक्रम से क्षणभर के लिए आतंकित हो उठते हैं।

इसप्रकार संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि 'पउमचरिउ' के नारी पात्र भाग्यवादी नहीं; बल्कि अत्यन्त धैर्यशील, निर्भीक, साहसी एवं पुरुषार्थवादी हैं। वे कर्मसिद्धान्त में

परम आस्थावान् तथा कर्मफल में अटूट विश्वास रखनेवाले हैं। स्वयम्भू ने अपने जघन्य कोटि के नारी पात्रों को भी अधर में नहीं छोड़ा है। बल्कि उनके लिए भी एक ऐसा वातावरण प्रस्तुत किया है, जिससे वे अपने दुष्कर्मों के प्रति पश्चात्ताप कर भौतिक-सुखों की क्षणिकता का स्वयं ही अनुभव कर सकें और वैराग्योन्मुख होकर शाश्वत-सुखों की प्राप्ति-हेतु प्रयत्नशील हो सकें। इस रूप में नारी को पुरुष की दासता से मुक्ति का मार्ग दिखाने, स्वतन्त्ररूप से आत्म-विकसित करने तथा उसके लोकमंगल की कामना करने की कवि स्वयम्भू की यह भावना निस्संदेह ही मौलिक मानी जायगी। इसी कारण नारी-जगत् उन्हें कभी भी विस्मृत नहीं कर सकेगा।

सन्दर्भ-सूची

1. पउमचरित, 49.12.6। 2. वही, 27.3.4। 3. वही, 54.2.9। 4. वही, 32.8.9। 5. वही, 36.5.4। 6. वही, 41.12। 7. वही, 7.3-6। 8. वही, 49.17.2-3। 9. वही, 49.9.9-10। 10. वही, 50.12.2। 11. वही, 50.12.5-11। 12. वही, 81.15.1-2। 13. वही, 83.6.1, 8-9। 14. वही, 83.8.8-10, 83.91-6। 15. वही, 83.7.5। 16. वही, 83.11.9-10, 83/12, 13, 14, 15, 16। 17. वही, 83.18-20, 85.12.2। 18. वही, 38.9-12। 19. वही 36.6-7। 20. वही, 37.6। 21. वही, 37.3। 22. वही, 37.2.2। 23. वही, 37.2.7-8। 24. वही, 41.4-4। 25. वही, 41.8-9। 26. वही, 49.16, 49.20। 27. वही, 49.14, 15। 28. वही, 49.16.1-2। 29. वही, 49.16.3-4। 30. वही, 41.11, 12। 31. वही, 70 1-2 74 2.7-9, 74.4। 32. वही, 76.3-4। 33. वही, 76 19-20। 34. वही, 48.11.6-10। ❖❖

उद्देशो लक्षणं सम्यक् रूपेण परीक्षा व

शास्त्रों के अध्ययन में प्रवृत्त होने के लिए प्राचीन आचार्यों ने यह क्रम बतलाया है—उद्देश, लक्षणनिर्देश और परीक्षा। सर्वप्रथम विवक्षित विषय का नाममात्र निर्देश करना चाहिए, तदनन्तर उसका स्वरूप-द्योतक लक्षण जानना चाहिए और उसके बाद परीक्षा करनी चाहिए, क्योंकि नाम से लक्षण और लक्षण से परीक्षा करनी चाहिए।

विवक्षित वस्तु के नाम मात्र का कथन करना उद्देश है, उद्दिष्ट को इतर वस्तुओं से पृथक् करनेवाले धर्म का नाम लक्षण है और लक्षण के अनुसार उसकी ऊहापोहपूर्वक समीक्षा करना परीक्षा है। जैसे—'गौ' —यह नाम गौविषयक परामर्श में उद्देश है; 'गलकम्बलवन्ती गौः' (जिसके गले में कंबल है, वह गौ है) —यह गौ का लक्षण है। गौ के गले में कम्बल है या नहीं —यह परीक्षण परीक्षा है।

इसप्रकार उद्देश, लक्षणनिर्देश और परीक्षा —इन त्रिविध के पर्यालोचन से वस्तु के परिज्ञान में प्रामाणिकता आती है। ❖❖

अहिंसा : एक विश्वधर्म

—श्रीमती रंजना जैन

‘अत्ता चेव अहिंसा’ का मूलमंत्र भारतीय संस्कृति का प्राणतत्त्व रहा है। इसके अनुसार आत्मा या प्राणीमात्र का स्वभाव मूलतः अहिंसक है, भले ही सिंह आदि प्राणी संस्कारवश या परिस्थितिवश भोजनादि के लिए हिंसा करते भी हैं; किन्तु वे पूर्णतः हिंसक कभी भी नहीं बन सके हैं। अपने बच्चों पर ममता, दया एवं रक्षा की भावना उनमें अहिंसा के अस्तित्व को प्रमाणित करती है। ‘अहिंसा’ को प्रायः कमजोरी का प्रतीक समझा जाता है, किंतु वस्तुतः यह दृढ़-मनस्वीजनों एवं वीरों का आभूषण है। यह मानसिक विकारों की निवृत्ति का सर्वोत्तम साधन भी है। क्रोध, बैर, झूठ, चोरी, दुराचार, अनावश्यक संग्रह, छल-प्रपंच आदि की दुष्प्रवृत्तियाँ अहिंसक मानस में कभी पनप नहीं पाती हैं। इसीलिए महर्षि पतंजलि ने लिखा है कि—

“अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।” —(योगसूत्र, 2/35)

अर्थात् जब जीवन में अहिंसा की भावना प्रतिष्ठित हो जाती है, तो व्यक्ति के मन से वैरभाव का त्याग हो ही जाता है। अहिंसा एक ऐसे विराट वटवृक्ष के समान है, जिसमें सत्य, शील, दया, क्षमा, निरभिमानीता, परोपकार आदि की सद्भावनायें पक्षियों की तरह घोंसले बनाकर निवास करती हैं। विश्व को सभ्यता और संस्कृति की शिक्षा देने के कारण ‘विश्वगुरु’ की पदवी प्राप्त भारतवर्ष में अहिंसा को जीवनदर्शन का मेरुदण्ड माना गया है। भारतीय जीवनदर्शन में जो मर्यादा एवं अनुशासन के संस्कार गहरे घर किये हुए हैं, उसका मूलकारण भी अहिंसक जीवनदृष्टि ही है। महर्षि मनु ने हजारों वर्ष पूर्व लिखा था कि—

“अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।” —(मनुस्मृति, 2/159)

‘अहिंसा’ की साधना वास्तव में एक उत्कृष्ट आध्यात्मिक साधना है, इसीलिए भारतीय मनीषियों एवं संतों ने इसे मात्र अन्य जीवों की रक्षा तक ही सीमित नहीं रखा है। उनकी मान्यता है कि यदि आपका मन प्रमाद, असावधानी या आवेश आदि से युक्त होता है, फिर किसी जीव के प्राणों का घात हो या नहीं, हिंसा की उत्पत्ति हो चुकी है। इसप्रकार उन्होंने मात्र हिंसा की परिणति को नहीं, अपितु उसे उत्पत्ति के स्तर पर ही मर्यादित/नियन्त्रित कर उसे आध्यात्मिक ऊँचाइयों प्रदान की हैं। उनकी स्पष्ट मानसिकता रही है कि मन से पूर्ण अहिंसक बने बिना व्यक्ति यदि पूजा, यज्ञ आदि या व्रत, उपवास आदि अनुष्ठान कर भी ले; तो भी उसे आत्मदृष्टि नहीं मिल सकती है, आत्मबोध नहीं हो सकता है; क्योंकि उसकी दृष्टि हिंसा की कालिमा से कलुषित है।

उपनिषदकर्त्ता ऋषि लिखते हैं—

“तद्यथेहकर्मजितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते।”

—(छान्दोग्य उपनिषद्, 8/1/6)

अर्थ:—जिसप्रकार इस लोक में श्रमरूप पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त (धन-वस्त्रादि) सामग्री नष्ट हो जाने वाली है, उसीप्रकार यज्ञादि द्वारा प्राप्त पुण्य भी नष्ट हो जाने वाले ही हैं। इसी बात को महर्षि बाल्मीकि ने भी स्पष्ट किया है—

“न श्रुतेन न पुण्येन ज्ञायते ज्ञेयमात्मनः ।” —(योगवाशिष्ठ, 6/83/14)

अर्थ:—आत्मा-सम्बन्धी ज्ञातव्य (आत्मज्ञान) को श्रुति (शास्त्र) को पढ़कर या (यज्ञादि से) पुण्यसंचित करके भी नहीं जाना जा सकता है।

वस्तुतः पुण्य की आसक्ति एवं आकर्षण हिंसा के मूलकारण राग-द्वेष की वृत्तियों से क्लुषित चित्त है। जो व्यक्ति अपने मन को इस मुक्त पूर्ण अहिंसक बनाकर आत्मज्ञानी बन जाता है, उसे पुण्यकर्मों के प्रति विवशता जैसी भावना नहीं रह जाती है।

नारायण श्रीकृष्ण 'गीता' में लिखते हैं—“आत्मवन्तं हि कर्माणि न बध्नन्ति धनंजय!”

अर्थात् हे अर्जुन! जो आत्मज्ञानी है, जिनका चित्त विषयवासनाओं एवं राग-द्वेष आदि हिंसामूलक भावनाओं से रहित है, उन्हें कर्मों का बंधन नहीं होता है।

यह आशवासन मिलने के बाद दृढ़ विश्वास से भरपूर आत्मवेत्ता को भला सामान्य-जनोचित पुण्यादि कार्यों का क्या आकर्षण रह जायेगा? महात्मा बुद्ध इसी तथ्य की पुष्टि करते हुये कहते हैं—

“अनवस्सुतचित्तस्स अनन्वाहतचेतसो ।

पुंजपापपहीणस्स नत्थि जागरतो भयं ।।” —(धम्मपद, चित्तवगा, 12)

अर्थ:—जिसका हृदय राग से रहित एवं द्वेष से मुक्त हो गया है, उस जागृत पुरुष (आत्मवेत्ता व्यक्ति) को पुण्य और पाप से पृथक् हो जाने का कोई भय नहीं रह जाता है।

अहिंसा की इतनी उदात्त एवं उच्चतम प्रतिष्ठा करनेवाली भारतीय संस्कृति ने मात्र आध्यात्मिक स्तर पर ही अहिंसा की प्रतिष्ठा नहीं की है, अपितु व्यावहारिक जीवन में भी उसकी तार्किक एवं संतुलित अवधारणा को प्रस्तुत किया है। अग्नि में होम/हवन करके पुण्य की आकांक्षा करनेवालों के प्रति वैदिक पुराणों में भी सावधान करते हुए स्पष्टतः अहिंसा का पालन करने का निर्देश दिया गया है—

“अहिंसा परमो धर्मस्तदग्निर्ज्वाल्यते कुतः ।

ह्युमाने यतो वह्नौ सूक्ष्मजीववधो महान् ।।” —(स्कन्दपुराण, 59/37)

अर्थ:—‘अहिंसा परमधर्म है’ —ऐसी स्थिति में अग्नि को (धर्मकार्यों में) जलाना कहाँ तक उचित है? क्योंकि अग्नि में आहुति देने आदिरूप क्रियाओं से सूक्ष्मजीवों का अपार वध (भारी हिंसा) होती ही है।

वस्तुतः उत्कृष्ट अहिंसक मानसिकता से ही प्राणीमात्र के प्रति करुणा, दया एवं वात्सल्य की उदारभावना के द्वारा ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ की उक्ति को चरितार्थ किया जा सकता है। अतः अहिंसा एक अति व्यापक धर्म होने से विश्वधर्म है तथा सम्पूर्ण विश्व इसी की छाया में संरक्षित रह सकता है।



डॉ० लुडविग अल्सडोर्फ

—डॉ० अभय प्रकाश जैन

प्रोफेसर (डॉ०) अल्सडोर्फ विश्वविद्यालय फेडरल रिपब्लिक जर्मनी में पाली, प्राकृत, अपभ्रंश के अध्ययन का कार्य करते थे। उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय में 1930-32 में जर्मन, फ्रेंच तथा भाषाविद् के रूप में कार्य किया। उन्होंने आचार्यरत्न श्रीदेशभूषण जी मुनिराज से प्रेरणा लेकर जैनदर्शन पर व्यापक अध्ययन किया था। फलतः उन्हें 'हरिवंश पुराण' पर शोधकार्य करने की प्रेरणा डॉ० हर्मन जैकोबी से मिली।

डॉ० अल्सडोर्फ का जन्म 1904 में 'राहमानलैण्ड' (जर्मनी) में हुआ था। उन्होंने भारतीय विद्या (Indology), समीक्षात्मक भाषाविज्ञान, संस्कृत तथा अरबी, फारसी का अध्ययन हैडिलबर्ग तथा हैम्बर्ग विश्वविद्यालय में किया। संस्कृत का अध्ययन उन्होंने नरिच जिम्मर तथा वाल्दीर शियूब्रिंग के सम्पर्क में पूरा किया। डॉ० अल्सडोर्फ ने 1928 में हैम्बर्ग विश्वविद्यालय से 'कुमारपाल प्रतिबोध' नामक जैन अपभ्रंश ग्रंथ पर पी-एच०डी की शोध-उपाधि प्राप्त की। इससे आगे का शोध उन्होंने डॉ० हैनरिच ल्यूडर नामक जर्मन इंडोलॉजिस्ट के सान्निध्य में जारी रखा। फिर वे हर्मन जैकोबी के सम्पर्क में आए और 'हरिवंशपुराण' पर शोधकार्य किया जिसका शोध-ग्रंथ 1963 में प्रकाशित हुआ। 1932-33 में वे दक्षिण के दिगंबर मुनियों के सम्पर्क में आये, उनके ज्ञान ने उन्हें चमत्कृत कर दिया।

शिवपुरी में उनकी आचार्य विजयेन्द्र सूरि तथा विद्याविजय मुनि, जयन्तविजय मुनि से जैनधर्म-विषयक चर्चें हुईं। वे बर्लिन विश्वविद्यालय में इंडोलॉजी/जैनेलॉजी के 'रीडर' रहे। बाद में मुनिस्टर विश्वविद्यालय में 'प्रोफेसर' के पद पर कार्य किया। अक्टूबर 1950 में प्रोफेसर अल्सडोर्फ को 'हैड ऑफ दि डिपार्टमेंट इंडोलॉजी/ जैनेलॉजी' बनाया गया। वे इस पद पर अपने गुरु प्रो० शुब्रिंग के स्थान पर हैम्बर्ग विश्वविद्यालय में नियुक्त किए गए। वे 1972 तक हैम्बर्ग विश्वविद्यालय पर आसीन रहे।

जैनविद्या/भारतीय विद्या पर उनके उल्लेखनीय योगदान के लिए हम उनका अभिनन्दन करते हैं। उनके जैनविद्या एवं भारतीय विद्या-विषयक लेखन का संक्षिप्त विवरण निम्नानुसार है:—

- (1) 'उत्तराध्ययन' पर 6 शोध आलेख।
- (2) 'अपभ्रंश अध्ययन' *Apabramsha Studies* (ग्रंथ) (1937) भाषा जर्मन।
- (3) दि इंडियन सव कोरिनेट भारत-पाकिस्तान-सीलोन (ग्रंथ) (1955)।

- (4) कन्द्रीब्यूशन टू दि हिस्ट्री ऑफ वेजीटेरियनिज्म एण्ड वरशिप इन इण्डिया (ग्रंथ) (1951) तथा (1959)।
- (5) दो वोल्यूम में प्रो० हैनरिच ल्यूडर के अप्रकाशित शोधपत्रों के प्रकाशन हुआ है, इसके संपादक इन वोल्यूमों का नाम 'वरुण' रखा है।
- (6) आप पाली/प्राकृत क्रिटिकल डिक्शनरी के मुख्य संपादक रहे।

वे 'साइंस एकेडेमी एण्ड लिटरेचर मैनेन्स' के सदस्य तथा 'रायल डैनिश एकेडेमी साइंस/लिटरेचर' के कार्यकारी सदस्य रहे। वे द्वितीय विश्व युद्ध के बाद भारत 12 बार आए। संस्कृत संगोष्ठियों तथा अन्तर्राष्ट्रीय कांफ्रेंस ऑफ ओरियण्टलिस्ट में आए। जैन-आगमों पर उनके शोधपूर्ण व्याख्यान उल्लेखनीय रहे हैं। ❖❖

‘क्षमा वीरस्य भूषणम्’

“खम्मामि सव्व जीवाणं, सव्वे जीवा खमंतु मे।”

क्षमा में अपार शक्ति है। वह क्षमाप्रदाता को तो ऊँचा उठाती ही है, क्षमा प्राप्त करनेवाला भी उसकी कृपापूर्ण उदारता से वंचित नहीं रहता। जैसे वस्त्र प्रतिदिन मलिन होते रहते हैं और उन्हें पुनः निर्मल करने का प्रयत्न किया जाता रहता है, वैसे ही सावधान रहते हुए भी मानव को ज्ञात-अज्ञात क्रोधकषाय बाधित करते रहते हैं। उन्हें क्षमा के निर्मल-नीर से प्रक्षालित करनेवाला अपने आत्मा में शान्ति के शीतल सरोवरों की रचना करता है। नीतिकार कहते हैं कि “जो दुर्वचन बोलता है, उसे रात्रि में नींद नहीं आती है; किन्तु उसे सहन करनेवाला क्षमाधारी निराकुलता से नन्दनवन के मसृण-पल्लवों पर सोता है।” क्षमा के प्रदेश में क्रोध की अग्नि प्रज्वलित नहीं होती, वहाँ धरह मास बसन्त के फूल मुसकराते रहते हैं। धर्म की भूमि, जिसमें 'अहिंसा' बीज बोया जाता है, पहले 'क्षमा' से उर्वर की जाती है। इसी हेतु से पर्वराज दशलक्ष्णों में क्षमा को प्रथम स्थान प्राप्त है। यह क्षमा पराजित का दैन्य नहीं, अपितु विजयी का भेरीनाद है। 'खम्मामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे' यह सन्मति महावीर की दिव्यध्वनि है। जो महावीर होता है, वही विश्व को 'अभय' दे सकता है। पृथ्वी जब अपना क्षमाभाव छोड़ती है, तो भयानक भूचाल आते हैं और मानवजाति जब क्षमाहीन हो जाती है, तो विश्व में प्रचलित 'मत्स्यन्याय' उसे विनाश के बर्बर-युग में धकेल देता है। अतः मानवता की विभूति, धर्मबीज की प्ररोहभूमि, निराकुलता की धात्री, रज्जुरहित स्नेहग्रन्थि और मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य एवं ब्रह्मचर्य की ज्येष्ठा क्षमा के सम्यक्त्वानुपूर्वी उत्तमत्व से हम अक्षीण रहें, यही 'क्षमा' दिवस का प्रशस्त मंगलपाठ है।

विनयावनत

‘प्राकृतविद्या’ परिवार

आदिब्रह्मा तीर्थकर ऋषभदेव

—डॉ० सुदीप जैन

सम्पूर्ण भारतीय-परम्परा में तीर्थकर ऋषभदेव का अग्रणी स्थान सर्वसम्मत रूप से स्वीकार किया गया है। उन्होंने जहाँ कृतयुग के आरम्भ में अग्नि-मणि-कृषि-वाणिज्य-विद्या और शिल्प की शिक्षा देकर मानव की सांस्कृतिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि का निर्माण किया था, वहीं नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए उन्होंने निर्ग्रन्थ श्रमणदीक्षा लेकर मोक्षमार्ग का प्रवर्तन भी किया था। इसीलिए समग्र भारतीय-परम्परा में उन्हें लौकिक एवं लोकोत्तर — दोनों मार्गों का 'आदिब्रह्मा' स्वीकार किया गया है।

आद्य शंकराचार्य ने ऋषभदेव को ॐकार-स्वरूप प्रतिपादित किया है—“यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः छन्देभ्योऽध्यमृतात् संबभूव। समेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देवघारणो शरीरं मे विचर्षणाम्।” —(तैत्तिरीयोपनिषद्, शांकरभाष्य, शिक्षाध्याय 4/1)

अर्थ:—यह ॐकार छन्दों (वेदों या वेदभाष्य छान्दस) में वृषभरूप सर्वश्रेष्ठ है। यह विश्वरूप भी है। (अर्थात् इस ॐकारस्वरूपी परमात्मा को वेदों में ऋषभ और विश्वरूप कहा गया है।) वह वेदों (राम) के अमृत-अंश से उत्पन्न हुआ है। वह इन्द्रस्वरूपी (सर्वशक्तिमान ॐकार) मुझे मेधा (बुद्धि) से बलवान् करे। हे देव ! मैं इस अमृततत्त्व (आत्मज्ञान) का धारक बनूँ। मेरा शरीर इसके लिए समर्थ (योग्य) बने।

ऋषभदेव के साथ लगा 'देव' पद प्राचीन-परम्परा में ऋषभदेव का ही सूचक अन्त्यपद रहा है, जैसे आजकल गाँधी जी, पंडित जी या नेहरू जी आदि पदों से राष्ट्रपिता एवं प्रथम प्रधानमंत्री जी आदि की स्पष्ट पहिचान जनमानस में बनी हुई है। इसके लिए पूरा नाम लेने की अपेक्षा नहीं होती है। इसी रूप में ऋषभदेव को ॐकारस्वरूपी 'कातन्त्र व्याकरण' के कर्ता आचार्य शर्ववर्म ने भी सादर स्मृत किया है—

“ॐकारं बिंदुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।

कामदं मोक्षदं देवमोकाराय नमो नमः॥”

—(डॉ० जानकीप्रसाद द्विवेदी, डी० लिट् शोध प्रबन्ध)

यहाँ कई लोग भ्रमवश 'देवम्' पद की जगह 'चैव' पद का प्रयोग करते हैं, जो कि भ्रामक है तथा मूलविरुद्ध है। अर्थ की संगति भी इससे नहीं बैठती है।

'श्रीमद्भागवत' के कर्ता ने ऋषभदेव के 'परमगुरु' के विशेषण से सादर अलंकृत किया है—“इति ह स्म सकलवेद-लोक-देव-ब्राह्मण-गवां परमगुरोर्भगवत् ऋषभाख्यस्य विशुद्धाचरितमीरितं पुंसां समस्तदुश्चरिताभिहरणं परममहामंगलायतनम्.....।”

—(भागवत, 5, 6/16)

अर्थ:—इसप्रकार सम्पूर्ण वेद, लोक, देव, ब्राह्मण और गायों के 'परमगुरु' भगवान्

ऋषभदेव का विशुद्ध चरित्र कहा गया; जो कि मनुष्यों के समस्त दुश्चरित्र को दूर करनेवाला तथा उत्कृष्ट महान् सुमंगलों का स्थान (आयतन) है।

आदिब्रह्मा तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म इस युग के अंतिम कुलकर राजा नाभिराय की सहधर्मिणी रानी मरुदेवी की पुण्यकुक्षि से हुआ था—यह तथ्य सर्वविदित एवं निर्विवाद है। इसी बात को वैदिक परम्परा के ग्रंथों में भी उनकी भाषा-शैली में स्वीकार किया गया है। देखें—“भगवान् परमर्षिभिः प्रसादतो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरो धायने मरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुरवततार।”

—(भागवत, 5/3/20)

अर्थः—परम श्रेष्ठ ऋषियों पर प्रसन्न हुये भगवान् ने प्रकट होकर कहा कि “मैं नाभिराय का प्रिय करने की इच्छा से उनके अन्तःपुर में मरुदेवी के गर्भ से धर्म का दर्शन कराने के लिए वातरशन, ऊर्ध्वचारी श्रमण ऋषियों के निर्मल शरीर को धारण करूँगा।”

“नाभेरसौ वृषभ आप्तसुदेवसूनु-

र्यो वै चचार समदृक् योगचर्याम्।

यत्पारहंस्यमृषयः पदमामनन्ति,

स्वस्थः प्रशान्तकराः परित्यक्तसंगः।।” —(वही, 7/10)

अर्थः—राजा नाभि की पत्नी सुदेवी (मरुदेवी) के गर्भ से आप्तरूप में ऋषभदेव ने जन्म लिया। इस अवतार में समस्त आसक्तियों से रहित होकर, इन्द्रियों एवं मन को शांत करके, अपने स्वरूप में स्थित होकर समदर्शी के रूप में उन्होंने योगचर्या का आचरण किया। इस स्थिति को महर्षियों ने ‘परमहंसावस्था’ कहा है।

इसमें प्रयुक्त ‘श्रमण’ एवं ‘आप्त’ पद स्पष्टतः जैनपरंपरा की हैं।

इनके नामकरण के कारण का विवेचन भी ‘भागवत’ में स्पष्टरूप से किया गया है—“तस्य ह वा इत्थं वर्ष्मणा वरीयसा बृहच्छ्लोकेन चौजसा बलेनं श्रिया यशसा वीर्यशौर्याभ्यां च पिता ऋषभ इति चकार।” —(वही, 5/4/2)

अर्थः—उनके सुन्दर और सुडौल शरीर को, विपुल कीर्ति, तेज, बल, ऐश्वर्य, यशः, पराक्रम और शौर्य आदि विशिष्ट गुणावलि के अनुरूप पिता ने उनका नाम ‘ऋषभ’ रखा।

इनके वंश की श्रेष्ठता का यशोगान वहाँ आया है—

“अहो ! न वंशो यशसावदातः, प्रेयत्रतो यत्र पुमान् पुराणः।

कृतावतारः पुरुषः स आद्यः, चचार धर्मं यदकर्महेतुम्।।”

—(भागवत, 5/6/14)

अर्थः—अहो ! अत्यंत प्रिय व्रतवाले (नाभिराय) यह (इक्ष्वाकु) वंश बड़ा ही उज्ज्वल एवं सुयशपूर्ण है, जिसमें कृतयुग के आद्य पुराणपुरुष वृषभदेव ने जन्म लेकर योगचर्या रूप

परमधर्म का आचरण किया।

उनकी आध्यात्मिक जीवनशैली का विवरण 'श्रीमद्भागवत' में प्रभावी रूप में प्राप्त होता है—“भगवानृषभसंज्ञ आत्मतंत्रः स्वयं नित्यनिर्वृत्तानर्थपरम्परः केवलानन्दानुभव ईश्वर एव विपरीतवत् कर्मण्यारभमाणः कालेनानुगतं धर्ममाचरणेनोपशिक्षयन्तद्विदां सम उपशान्तो मैत्रः कारुणिको धर्मार्थयशः प्रजानन्दामृतावरोधेन गृहेषु लोकं नियमयत् (न्ययमयत्)।” —(श्रीमद्भागवत, पंचम स्कंध, 4/14)

अर्थ:—ऋषभदेव नामक भगवान् आत्मात्मय थे एवं अनर्थ की परम्पराओं से स्वयं नित्य-निर्वृत्त थे। वे केवलानन्द (क्षायिक सुख) का अनुभव करनेवाले ईश्वर थे। वे 'अतद्विद्' लोगों अर्थात् ऋषभदेव के धर्म से अनजान लोगों के लिए विपरीतवत् (परस्पर विरुद्ध धर्मों का एक में ही प्ररूपण) कथन करके (अर्थात् अनेकान्तवाद का प्ररूपण करके) समय (शास्त्र-परंपरा या पूर्व तीर्थकर-परंपरा) से अनुगत धर्म का सम्यक्चारित्रपूर्वक उपशिक्षण करते थे। वे ऋषभदेव समताभावी, उपशांतचित्त, प्राणीमात्र से मैत्रीभाव रखनेवाले (मेंती मे सव्वभूदेसु) एवं दयावान् थे। उन्होंने धर्म, अर्थ, यश एवं प्रजाओं के आनन्दामृतस्वरूप मोक्ष के निरूपण द्वारा गृहस्थाश्रम में स्थित लोगों को सन्मार्ग में नियमित किया था।

भगवान् ऋषभदेव ने उत्तमक्षमादि दशलक्षणमयी धर्म का उपदेश दिया था —एसा उल्लेख 'ब्रह्मांडपुराण' में स्पष्टरूप से मिलता है—“इह वि इक्ष्वाकुकुलोद्भवेन नाभिसुतेन मरुदेव्या नन्देन महादेवेन ऋषभेण धर्मः दशप्रकारो स्वयमेवाचीर्णः केवलज्ञानलाभाच्च प्रवर्तितः।”

अर्थ:—इस लोक में इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न, नाभिराय के पुत्र एवं मरुदेवी के नन्दन देवाधिदेव भगवान् ऋषभदेव ने दशलक्षणमयी धर्म का स्वयं आचरण किया और केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर स्वयं लोकहित के लिए उसका प्रवर्तन (उपदेश) भी किया था।

इस दशलक्षणमयी धर्म का कथन जैनसूत्र-ग्रंथ में निम्नानुसार मिलता है—“उत्तमक्षमा-मार्दवार्जव-शौच-सत्य-संयम-तपस्त्यागाकिंचन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः।” —(तत्त्वार्थसूत्र)

अर्थ:—धर्म का स्वरूप उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य एवं उत्तम ब्रह्मचर्य — इन दशलक्षणमय है।

इसप्रकार हम पाते हैं कि धर्म का स्वरूप जैसा जैन-मान्यता में है, वैसा ही अन्य मतावलम्बियों ने भी तीर्थकर ऋषभदेव के द्वारा प्ररूपित बताया है। यही नहीं, जैन मान्यता के विशिष्ट पारिभाषिक शब्दों का विशेषणों के रूप में प्रयोग करके उन्होंने ऋषभदेव जैनों के आदि तीर्थकर थे —यह सिद्ध किया है। इसीलिए जैन-परंपरा में इन्हें 'आदिनाथ' भी कहा जाता है।



हमारी बद्दीनाथ-यात्रा

-डॉ० प्रेमचन्द्र रावका

भारत राष्ट्र के आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक विकास में जैनधर्म के तीर्थकरों, आचार्यों एवं सन्त मनीषियों का महान् योगदान रहा है। उत्तर से दक्षिण ओर पूर्व से पश्चिम समग्र भारत को जैनों ने अपना राष्ट्र माना। धर्म का प्रचार करनेवाले तीर्थकरों के जन्म, तप एवं निर्वाण-स्थल अलग-अलग रहे। ऐसे सभी निर्वाण-स्थलों की वन्दना विशेषतः की गई है:—

सम्मदेगिर गिरनार चम्पा, पावापुरी कैलास को ।

पूजों सदा चौबीस जिन, निर्वाणभूमि निवास को ।।

आद्य तीर्थकर भगवान् ऋषभदेव का जन्म अयोध्या नगर में हुआ; जबकि उनका तपोभूमि एवं निर्वाण-स्थल कैलाश पर्वत रहा। भगवान् अरिष्टनेमि का जन्म मथुरा में हुआ, पर उनका साधनास्थल गिरनार पर्वत रहा। तीर्थकर सुपाश्र्व व पाश्र्वनाथ का जन्म-स्थल वाराणसी रहा; पर निर्वाण-स्थल बिहार का सम्मेद शिखर बना। अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु ने अपने शिष्य चन्द्रगुप्त व अन्य मुनियों के साथ दक्षिण-भारत कर्नाटक में जैनधर्म का प्रचार किया। उन्होंने श्रवणबेलगोला को अपनी साधना-स्थली बनाया। कालान्तर में इसी स्थल पर अपने गुरु आचार्य नेमिचन्द्र के निर्देशन में सेनापति चामुण्डराय ने प्रथम मोक्षगामी बाहुबलि की विश्वविख्यात 57 फुट उत्तुंग अद्भुत मनोज्ञ मूर्ति का निर्माण कराया। इसप्रकार पूर्व में सम्मेदशिखर, पश्चिम में गिरनार, उत्तर में अष्टापद कैलाश और दक्षिण में श्रवणबेलगोला जैसे तीर्थक्षेत्रों के रूप में जैनधर्म एवं समाज ने समुद्री सीमाओं से लेकर हिमालय-पर्यन्त समस्त राष्ट्र को भावनात्मक एकता के सूत्र में पिरोये रखा है।

चौबीस तीर्थकरों में से तेईस तीर्थकरों के निर्वाण स्थलों की यात्रा-वन्दना का पावन अवसर तो हमें मिलता रहा; परन्तु सुदीर्घकाल तक प्राकृतिक परिवर्तनों, हिमालय पर्वत पर जाने की दुःसाध्य एवं साधनों के अभाव के कारण प्रथम तीर्थकर आदिनाथ के निर्वाणस्थल 'अष्टापद कैलाश पर्वत' की वन्दनार्थ यात्रा सम्भव नहीं हो सकी। केवल पूजा-भक्ति में अर्घ्य चढ़ाकर ही सन्तोष करके परोक्ष वन्दना कर भक्ति-भावना व्यक्त की जाती रही है। चौबीस तीर्थकरों की निर्वाण-भूमियों के प्रति हमारी श्रद्धा सर्वविदित है। इनमें भी प्रथम तीर्थकर आदिनाथ की निर्वाण-स्थली होने के कारण 'अष्टापद' तो सर्वाधिक पूज्य पुण्यभूमि है।

यह 'अष्टापद कैलाश पर्वत' सैकड़ों वर्षों से वैष्णव तीर्थ 'बद्दीनाथ धाम' के रूप में प्रसिद्ध रहा है। भगवान् बद्दीनाथ की मूर्ति का चित्र जब दृष्टिपथ में आया, तो इसे

पद्मासनस्थ रूप में देख जैन सामाजिकों के मन में दर्शनार्थ जिज्ञासा जगी। प्रातः वन्द्य मुनिश्री विद्यानन्द जी मुनिराज ने भी इस ओर दृष्टिपात किया। सन् 1970 में अन्वेषी मुनिराजश्री विद्यानन्द जी के चरण उस दिशा में बढ़ चले। वे हरिद्वार में गंगा नदी के किनारे 'हर की पौड़ी' पर प्रसिद्ध 'कल्याण' आध्यात्मिक मासिक पत्र के विद्वान् मनीषी सम्पादक पं० श्री हनुमान प्रसाद जी पोद्दार एवं ऋषिकेश में ऋषि-मुनियों से आध्यात्मिक चर्चा करते हुये, मध्यवर्ती ग्रामांचलों में धर्म-गंगा प्रवाहित करते हुये श्रीनगर-गढ़वाल पहुँचे। वहाँ वे अलकनन्दा नदी के तट पर सुरम्य पर्वतों के मध्य अवस्थित आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव की समवशरणस्थली श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, श्रीनगर-गढ़वाल में ठहरे।

श्रीनगर-गढ़वाल से मुनिराजश्री आगे बढ़े। भक्तगण उनके साथ हिमानी हवाओं में भी अध्यात्म का आनन्द लेने लगे। मार्ग में सभी ग्रामवासियों, दर्शकों को सन्त-समागम का सद्लाभ देते हुये हिमाच्छादित पर्वत शृंखलाओं के मध्यवर्ती 'बद्रीनाथ धाम' जा पहुँचे। मार्ग में मुनिश्री ने अपनी अद्भुत विद्वत्ता एवं उदात्त विचारों से सभी को प्रभावित किया। वैष्णव भक्तगण भी उनके साथ चलते रहे। उत्तराखण्ड की इस पावन हिमशीतल धराधाम पर वर्षों से किसी दिगम्बर मुनि का मंगल-विहार नहीं हुआ था। मुनिश्री विद्यानन्द जी ऐसे प्रथम मुनिराज रहे; जिनके वहाँ चरण धरते ही सामाजिकों के हृदय में नवीन स्फूर्ति, अध्यात्म-प्रेरणा, श्रद्धा व आस्था के सद्भाव जगने लगे।

मुनिराज श्री विद्यानन्द जी को अपनी इस दीर्घ मंगल-पदयात्रा की सफलता की अनुभूति तब हुई; जब उन्हें दूसरे दिन प्रातः ब्रह्ममुहूर्त में भगवान् बद्रीनाथ के अभिषेक-समारोह में दिगम्बर पद्मासनावस्था में भगवान् आदिनाथ की प्रतिमा के रूप में दर्शन हुये। दर्शन करते ही उन्हें यह स्पष्ट प्रतिभासित हो गया कि यह प्रतिमा प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ की ही है, और यही क्षेत्र अष्टापद कैलाशपर्वत है; जहाँ उन्हें निर्वाण प्राप्त हुआ। इन मुनिराज श्री विद्यानन्द जी ने एक बार पुनः अनेक वर्षों बाद जैनधर्म की ध्वजा को दक्षिण से उत्तर भारत में हिमालय पर्वत तक ले जाने और फहराने का वन्दनीय कार्य सम्पन्न किया। वे स्वयं तो वन्दनीय हैं ही—

“धन्याः सुविज्ञाः आत्मसिद्धाः मुनीश्वराः।

नास्ति येषां यशःकाये जरा-मरणजं भयं।।”

“सद्दर्शन-बोध-चरण-पथ पर, अविरल जो बढ़ते हैं मुनिगण।

उन देव-परम-आगम-गुरु को शत-शत वन्दन! शत शत वन्दन।।”

प्रकृति के सुषमामय शान्त-एकान्त वातावरण में आत्मा-साधना का अपना अप्रतिम आनन्द होता है। इसीलिये ऋषि-मुनि आत्म-साधना के लिये एकान्त शान्त वनस्थली का चयन करते हैं। उन तपस्वी मुनियों के सान्निध्य में परस्पर विरोधी स्वभावी प्राणी भी

अपना जन्मजात-बैरभाव भूलाकर वन-प्रदेश में निर्भय विचरण करते हैं। और ऐसा वन 'तपोवन' की संज्ञा पाकर प्राणीमात्र को त्राण प्रदान करता है। एकान्तवासी वीतरागी मुनियों को जो सुख मिलता है, वह देवराज और चक्रवर्तियों को भी दुर्लभ है—

“न सुखं देवराजस्य न सुखं चक्रवर्तिनः।

यत्सुखं वीतरागस्य मुनेरेकान्तवासिनः।।”

इस सुदूर अति उत्तुंग हिमालयक्षेत्र में आचार्य मुनिश्री विद्यानन्द जी का सन् 1970 में 170 दिवसों का जंगल में मंगलकारी तपोप्रवास न केवल जैनसमाज, अपितु मानव-मात्र के लिये आत्मकल्याणकारी हो गया। तभी से जैनसमाज में 'बद्रीनाथ-आदिनाथ यात्रा' चर्चा का विषय बनी। आचार्य मुनिराज श्री की सद्प्रेरणा से ही वहाँ पृथक् से 'आदिनाथ-आध्यात्मिक अहिंसा फाउण्डेशन भवन' बन गया है; जिसमें ऋणभदेव के प्राचीनतम चरण स्थापित हैं। इसके पृष्ठभाग में 100 व्यक्तियों के लिये प्रवास-भवन है, जो सुविधाओं से युक्त हैं। यहाँ से बद्रीनाथ का मन्दिर लगभग आधा किलोमीटर मात्र है।

ग्रीष्मावकाश होने पर 8 मई '98 को बीकानेर से जयपुर अपने निवास-स्थान (श्री जीनगर-दुर्गापुरा) आने पर मेरी सहधर्मचारिणी श्रीमती स्नेहलता ने बताया कि बुन्देलखण्ड यात्रा-संघ, जयपुर ने दिनांक 23 मई '98 को बद्रीनाथ की यात्रा जाने का निर्णय लिया है। हमें भी चला चाहिये, मैंने इस भयंकर गर्मी में यात्रा करने में अरुचि दिखायी। शासन भी ग्रीष्मावकाश आराम के लिये जो देता है। पत्नी ने मुझे विश्वास में लेते हुये कहा कि यह यात्रा बड़ी ऐतिहासिक महत्त्वपूर्ण धार्मिक मूल्यवाली है। संघ बिना ऐसी बड़ी यात्रा नहीं हो पाती है। फिर इस समय छुट्टियाँ भी हैं, अतः इन्कार मत करो और यात्रा-संघ के संयोजक श्री नेमीचन्द जी काला और श्री प्रकाशचन्द जी तेरापंथी से मिलकर आरक्षण करा लो। सहधर्मचारिणी के धर्मयात्रा के इस आग्रह को मैं टाल नहीं सका। दिनांक 17.5.98 को दुर्गापुरा के दिगम्बर जैन मन्दिर में आयोजित बुन्देलखण्ड यात्रा-संघ के पूजा-गोष्ठी के कार्यक्रम में उक्त यात्रा में जाने का निश्चय हुआ।

इन्हीं दिनों समाचार-पत्रों में दो-तीन बार बद्रीनाथ-केदारनाथ की दुर्गम पर्वतीय यात्रा-मार्ग में तीर्थयात्रियों की बस दुर्घटना के समाचार प्रकाशित हुये; जिसमें बस के नीचे गिरने एवं कईयों के हताहत के समाचार थे। इन समाचारों ने मेरे मन को भयभीत कर दिया। इस यात्रा के विषय में संकल्प-विकल्प-आशंकायें उठने लगीं। यात्रा स्थगित करने तक के विकल्प मन में आने लगे। फिर संयोजकों से यह जानकर कि 'दुर्घटना वाले मार्ग की यात्रा रद्द कर दी है, हमें तो सीधे केवल बद्रीनाथ ही जाना है', मैं विश्वस्त हुआ। भगवान् बद्रीनाथ-आदिनाथ को प्रणाम किया।

तीर्थक्षेत्रों की परोक्ष-वन्दना का भी प्रत्यक्ष-वन्दना-सदृश आध्यात्मिक महत्त्व होता

है। इससे तन-मन की निर्मलता मिलती है। जब से आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज ने 'बद्रीनाथ' की मूर्ति को 'आदिनाथ' की प्रतिमा घोषित किया; तब से ही मैं अपने प्रातःकालीन 'वन्दनाक्रम' में 'अष्टापद आदीश्वर स्वामी' के रूप में परोक्ष-वन्दना का भाव रखता आया हूँ। संभव है, मेरी परोक्ष-भावना से पत्नी को 'बद्रीनाथ' यात्रा के लिये प्रेरित किया हो?

'श्री बद्रीनाथ यात्रा' की तैयारी की जाने लगी। गर्मी, सर्दी व वर्षा —तीनों ऋतुओं के लिये वस्त्र-व्यवस्था की। नाश्ते-भोजन की व्यवस्था तो सामूहिक ही थी। दिनांक 23 मई '98 को शनिवार की रात्रि में 11.00 बजे श्री पार्श्वनाथ स्वामी के मन्दिर में आरती-वन्दना करके हम लोगों ने 20-20 सीटों वाली दो मिनी बसों में राजस्थान विधानसभा-भवन से 10.30 पर प्रस्थान किया। दूसरे दिन दिनांक 24 को दिल्ली होते हुये प्रातः 9.00 बजे मोदीनगर स्थित श्री शान्तिनाथ दिगम्बर जैन मंदिर के पृष्ठभागीय विश्रामस्थल में निवृत्त होकर मन्दिर जी में भ० शान्तिनाथ की विशाल प्रतिमा की पूजा-वन्दना की। यहाँ से 11.00 बजे हरिद्वार की ओर चले, जहाँ 3.00 बजे पहुँचे। हरिद्वार में बस स्टैंड के पास शहर में श्री आदिनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर है। परन्तु महाकुंभ के मेले के अन्तिम चरण एवं अगले दिन सोमवती अमावस्या की भीड़ के कारण हमें शहर के बाई-पास ऋषिकेश मार्ग पर श्री पार्श्वनाथ श्वेताम्बर जिनालय के विश्राम-स्थल में ठहरना पड़ा। सायंभोजनादि से निवृत्त होकर भ्रमण करते हुये गंगा नदी के विशाल प्रवाह को 'हर की पौड़ी' से देखा। रात्रि-विश्राम उक्त स्थल में ही किया।

दूसरे दिन दिनांक 25 को प्रातः 8.00 बजे अल्पाहार कर 'ऋषिकेश' की ओर चले। बसों की चैकिंग के कारण बीच-बीच में रुकना पड़ा। मध्याह्न में 'ऋषिकेश' में गंगादर्शन, लक्ष्मणझूला, मन्दिर आदि देखें। हरिद्वार की तरह यहाँ भी भीड़ थी, लक्ष्मणझूला को ही इकतरफा पार करने में आधे घण्टे से अधिक लग गया। ऋषिकेश से लगभग 1.00 बजे आगे की ओर चले। यहीं से चढ़ाई प्रारम्भ हो जाती है। पर्वत-मालाओं में चलते हुये 'व्यासी' कस्बे में प्रवेश कर वन-विभाग के उपवन में भोजन लिया। व्यासी से देवप्रयाग होते हुये पर्वतीय सर्पाकार चढ़ाई पर प्राकृतिक सुषमा का अवलोकन करते हुये रात्रि 9.00 बजे श्रीनगर-गढ़वाल पहुँचे।

श्रीनगर-गढ़वाल में अलकनन्दा नदी के किनारे श्री ऋषभदेव दिगम्बर जैन मन्दिर है, जहाँ आदिनाथ भगवान् का समवशरण आया था। हमने रात्रि-विश्राम इसी मन्दिर के पृष्ठभाग में बने भवन में किया। दूसरे दिन दिनांक 26.5.98 को प्रातः भगवान् आदिनाथ की प्रतिमा (सं०1538) एवं इनके प्राचीन चरणों की पूजार्चना की। यहाँ दो अन्य 4"-5" की छोटी पार्श्वनाथ की प्रतिमायें कृष्ण-नील वर्णी हैं। मन्दिर 150 वर्ष

प्राचीन है। आचार्य श्री विद्यानन्द जी मुनिराज ने सन् 1970 में यहीं चातुर्मास किया था। यहाँ पर्वत-मालाओं के मध्य अलकनन्दा नदी का शान्त प्रवाह हमारे तन-मन को आज भी शीतलता प्रदान कर रहा है। बस में खराबी होने से यहाँ हमें एक दिन और रुकना पड़ा। दिनांक 27.5 को प्रातः 7.00 बजे भगवान् आदिनाथ की वन्दना करके हमने बद्रीनाथ की ओर प्रयाण किया।

सर्पाकार पर्वतीय चढ़ाईयाँ, नीचे कल-कल-निनादिनी नदी का प्रवाह और नीचे से ऊपर तक उत्तुंग विविध विशाल घने वृक्षों के प्राकृतिक मनोरम दृश्यों से नयनानन्दानुभूति करते हुये हम ऊपर से ऊपर चढ़ने लगे। मार्ग में आने वाले कस्बों — रुद्रप्रयाग, कर्णप्रयाग, नन्दप्रयाग होते हुये चमोली जिले में पीपलकोठी पहुँचे। पर्वतीय सान्निध्य में भोजन किया। जोशीमठ हम मध्याह्न 1.00 बजे पहुँचे। जोशीमठ से बद्रीनाथ 38 कि०मी० है। यहाँ से बद्रीनाथ तक इकतरफा मार्ग है। क्योंकि जितनी गहरी खाईयाँ हैं, उतने ही ऊँचे-ऊँचे पर्वत। हर समय सतर्क रहना पड़ता है। जोशीमठ में आगे जाने के लिये हमें 2 बजे प्रवेशानुमति मिली। आगे गोविन्दघाट पहुँचे। जोशीमठ से बद्रीनाथ के सफर में प्रकृति के अनुपम सौंदर्य को जीभर देखने को मिलता है। बीच रास्ते में पाण्डुकेसर मन्दिर मिलता है; जहाँ वाहनों को रोका जाता है। यहाँ जब तक दोनों तरफ के वाहन एकत्रित नहीं हो जाते; तब तक यातायात आगे नहीं बढ़ता।

जैसे-जैसे चढ़ते गये, मार्ग में शीतल बर्फीले झरने, नदी में बर्फीले जल का वेगमय प्रवाह, कहीं वृक्षाच्छादित पर्वत, तो कहीं हिमाच्छादित पर्वत दिखने लगे। मौसम में नमी आ गई। नीचे बर्फीली नदियाँ, तो ऊपर बर्फीले पहाड़। जीवन में प्रथम बार वह मनोरम दृश्य देखने को मिला। पर्वतीय मार्ग के प्रत्येक खतरनाक मोड़ को ड्राइवर ने बड़ी सावधानी से पार किया। एक पल का प्रमाद बड़े हादसे में बदल जाता है। मन ही मन सब 'णमोकार मंत्र' जपते रहते।.....अन्त में वह शुभ घड़ी आ गई; जब राष्ट्र के उत्तुंग प्रहरी ने अपने हिमाच्छादित रूप में अपने दर्शनों से हमें आप्लावित किया। हम सब आत्मविभोर हो उठे। ठीक सायं 5.00 बजे भगवान् आदिनाथ (बद्रीनाथ) के मोक्षधाम-स्थल पर पहुँचे।

बसे से उतरे, थोड़ी सर्दी महसूस हुई। बस स्टैण्ड के पास ही अनेक विश्रामस्थल बने हुये हैं। हम दिगम्बर जैन विश्रामगृह की ओर चले, जो बस स्टैण्ड से थोड़ा नीचे उत्तरकर है। आगे के भवन में मन्दिर है, जिस पर 'अष्टापद कैलाशदेव भगवान् आदिनाथ निर्वाण-स्थली' लिखा है। इसके पीछे अतिथिगृह है; जिसके निचलेभाग में 6 कमरे और ऊपर की मंजिल में दो बड़े हाल निर्मित है; जिनमें 50 व्यक्ति एक साथ रह सकते हैं। सभी सुविधाएँ हैं, पूर्व में पत्र-व्यवहार होने से हम 40 व्यक्तियों के लिये तख्त, बैड, गद्दे, रजाई-समेत उपलब्ध थे। हमने यहीं विश्राम लिया।

यहाँ दिगम्बर जैन मन्दिर में भगवान् ऋषभदेव के प्राचीनतम चरण स्थापित हैं। मन्दिर में सेवार्थ महाराष्ट्र का एक जैन युवक मई से अगस्त तक चार माह रहता है। मन्दिर के पीछे विश्रामगृह के पास एक बड़े हाल का भी निर्माण हो गया है; जिसमें जून '98 के अन्तिम सप्ताह में पंचकल्याणक होकर जिनप्रतिमायें विराजमान की जावेंगी।

चारों ओर हिमाच्छादित पर्वत शृंखलाओं के मध्य कल-कल-निनादिनी अलकनन्दा के वेग से युक्त बदरीनाथ को प्राकृतिक सुषमा ने हमारे तन-मन को शान्ति-सुधा से परितृप्त कर दिया। बदरी वृक्षों की बहुलता के कारण यह स्थान 'बदरीनाथ' कहलाता है। वैसे श्रीनगर-गढ़वाल से बदरीनाथ तक का क्षेत्र 'देवभूमि' के रूप में प्रसिद्ध है। बदरीनाथ में ही अलकनन्दा का उद्गम हुआ है। यह आगे जाकर मन्दाकिनी और गंगा से मिलती है और सम्पूर्ण भारत में सुख-शान्ति और एकता का सन्देश लेकर प्रवाहित होती है।

सायंकालीन भोजन कर हम लोग भ्रमण के लिये निकले। बदरीनाथ मन्दिर-मार्ग की ओर चलने लगे। परन्तु विद्युत् के चंचल स्वभाव ने हमें आगे बढ़ने से रोक दिया। विवश हो अज्ञातमार्ग होने से विश्रामगृह को लौट चले। फिर भी हमारे दो सहयात्री श्री बालचन्द दीवान एवं श्री विमल कुमार सौगाणी अंधकार को भी परास्त कर मार्ग की जानकारी पाकर भ० बदरीनाथ के उस मुख्य मन्दिर में जा पहुँचे और भगवान् के संध्यावस्था के दर्शन कर ही आये। जो विश्रामस्थल से 1½ कि०मी० दूर है। विशाल नदी पर बने लोहे के पुल के मार्ग से मन्दिर तक पहुँचना होता है। मन्दिर भवन ऊँचाई पर है, जो बहुत दूर से दिखाई देता है। नीचे अलकनन्दा नदी अपने वेगमय प्रवाह से मानों भगवान् आदिनाथ (बदरीनाथ) के चरण स्पर्श करने के लिये मन्दिर तक पहुँचने को उद्यत हो रही है। हम लोग दिनांक 28/5/98 को तड़के उठकर 5 बजे पूर्व ही बदरीनाथ मन्दिर पहुँच गये। दर्शनार्थियों की पंक्ति में लग गये। ठीक 5 बजे मन्दिर के कपाट खुले। सभी ने उच्च स्वर से आदिनाथ-बदरीनाथ का जयघोष किया 5 से 6 बजे तक प्रतिमा के अभिषेक का कार्य सम्पन्न होता है। मन्दिर भवन के ठीक मध्य में शिखरयुक्त प्रतिमा-मन्दिर है, जिसके गर्भगृह में उच्चासन पर प्रतिमा विराजमान है। प्रतिमा-मन्दिर के चारों ओर बरामदों में शिव, ब्रह्मा, विष्णु, व्यास व अन्य ऋषियों के चित्र एवं मूर्तियाँ शोभायमान हैं।

एक गौरवर्ण सौम्य युवक गर्भगृह में हाथों में जल-कलश लिये अन्य द्वार से प्रविष्ट हुआ। मन्दिर के अन्य व्यक्तियों ने इसके चरण स्पर्श किये। यह ब्राह्मण युवक बालब्रह्मचारी बताया गया। बाल-ब्रह्मचारी ही अभिषेक कर सकता है। यह युवक अभिषेक पात्र के साथ प्रतिमा के सन्निकट पहुँच तीन बार शिरोनत हुआ। प्रतिमा पर के आवरण हटाये। पुनः प्रतिमा को तीन बार प्रणामांजलि की। प्रतिमा के पूर्ण दिगम्बर

रूप में भव्य दिव्यदर्शन हुये। उच्च स्वरों में जयनिनाद हुआ। समशीतोष्ण जल से अभिषेक के साथ वेद मंत्रोच्चार व घण्टे घड़याल गूँज उठे। आधा घण्टे तक अभिषेक होता रहा। पौने छः बजे तुलसी की माला पहनायी गयी। उसे उतारकर ठीक छः बजे प्रतिमा जी को वस्त्र-शृंगार से अलंकृत किया। हमने पुनः जयघोष किया। अभिषेक दर्शन कर भ० आदिनाथ की जय बोल कृतकृत्य हुये।

“दर्शनं देवदेवस्य, दर्शनं पापनाशनम्। दर्शनं स्वर्गसोपानं दर्शनं मोक्षसाधनम्।।”
वेद-मंत्रोच्चार होता रहा। पण्डितगण हमारे आदिनाथ के जयघोष से प्रफुल्लित हो रहे थे। धार्मिक सहिष्णुता का यह जीवन्तस्वरूप आनन्ददायी रहा।

कहा जाता है कि भ० बद्रीनाथ के रूप में यह आदिनाथ भगवान् की 1¼ फुट नीलवर्णी प्रतिमा सैकड़ों वर्ष पूर्व अलकनन्दा नदी के प्रवाह में थी। इसने मन्दिर के अधिष्ठाता को स्वप्न में दर्शन दिये। तदनुसार उसने मूर्ति को मन्दिर में विराजमान किया। आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज ने इस मूर्ति को चतुर्थकालीन बताया है। आचार्यश्री के अनुसार हिमालय को गौरीशंकर, कैलाश, बद्री-विशाल, नंदा, द्रोणगिरि, नारायण, नर और त्रिशूली इन आठ पर्वतश्रेणियों के कारण ‘अष्टापद’ भी कहते हैं। इसे ही निर्वाण काण्ड में “अष्टापद आदीश्वर स्वामी” कहा गया है। इसी हिमालय की पर्वत-शृंखलाओं में स्थित कैलाशपर्वत से ऋषभदेव व असंख्यात मुनि मोक्ष गये हैं। ‘प्रभास पुराण’ में उल्लेख मिलता है—

“कैलासे विपुले रम्ये वृषभोऽयं जिनेश्वरः।

चकार स्वावतारं च सर्वज्ञः सर्वगः शिवः।।”

अर्थः—विशाल रमणीय कैलाशपर्वत पर सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, शिवरूप भगवान् ऋषभजिनेश्वर ने अवतार लिया।

इसी अष्टापद कैलाशपर्वत पर भरत चक्रवर्ती, जिनके नाम से इस देश का नाम भारत पड़ा है, ने 24 तीर्थकरों के मन्दिरों का निर्माण कराया था। यही भूमि भरत-बाहुबली की साधना-स्थली रही। इसी भूमि पर भ० पार्श्वनाथ का समवशरण आया था। ‘श्रीमद्भागवत’ के अनुसार पिता नाभिराय और माता मरुदेवी ने यहीं ऋषभदेव का राज्याभिषेक कर बद्रीकाश्रम में घोर तप किया था और यहीं उनकी समाधि भी हुई। यहाँ से 4 कि०मी० दूरी पर मानसरोवर-कैलाश के मार्ग में भारतीय सीमा का अन्तिम गाँव ‘माण्णा’ है। यहाँ मरु माता का मन्दिर है और एक साधना-स्थल के रूप में नीलकण्ठ पर्वत पर नाभिराय के चरण-चिह्न अंकित हैं। सरस्वती नदी का उद्गम उक्त ‘मान्णा ग्राम’ से ही है, जो आगे अलकनन्दा से मिलती है। यात्रा का समापन माता मन्दिर के दर्शन से होता है।

बद्रीनाथ समुद्र तल से 3100 मीटर की ऊँचाई पर स्थित है। भारत की राजधानी

दिल्ली से 511 कि०मी० है। राजस्थान की राजधानी जयपुर से 818 कि० है। बर्फ से ढँकी नीलकण्ठ की चौकी भगवान् ऋषभदेव की तपस्थली रही है। बद्रीनाथ का मन्दिर गढ़वाली स्थापत्य-कला का विशिष्ट नमूना है। प्राचीनकाल में यह स्थान बेर (बदिर) के सघन वृक्षों से आच्छादित होने से 'बदरीनाथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मन्दिर के नीचे तीन प्राकृतिक उष्ण जल स्रोत-तप्तकुण्ड, सूर्यकुण्ड और नारदकुण्ड हैं। एक कुण्ड में गन्धक उष्ण जल है; जिसके स्नान से कायिक चर्मरोग दूर होते हैं। मन्दिर में जाने से पूर्व तप्तकुण्ड में स्नान की परम्परा है। प्रतिदिन अभिषेक-दर्शन के माध्यम से दिगम्बररूप में दर्शन देने वाली बद्रीनाथ प्रतिमा अलकनन्दा नदी में गरुड़कुण्ड से स्वप्न देकर निकली है। कहा जाता है कि यहाँ आज भी अनेक जैन प्रतिमायें मिलती हैं। यह क्षेत्र जैन-संस्कृति के प्राचीन वैभव को प्रकट करता है।

दि० 28/5/98 को मध्याह्न में हम 4 कि०मी० दूर 'माण्डा ग्राम' गये। वहाँ सरस्वती नदी के उद्गम स्थल पर विशाल, घोर गर्जना ध्वनियुक्त अद्भुत प्रपात को देखा। व्यासगुफा व गणेशगुफा भी देखी। उस समय आकाश में घनघटायें छा गईं। विश्रामस्थल लौटते-लौटते वर्षा प्रारम्भ हो गई। जो दो घण्टे तक चलती रही। रात्रि को अच्छी ठण्ड रही। दूसरे दिन पुनः प्रातः 5 बजे बदरीनाथ मन्दिर पहुँच कर पहले तप्तकुण्ड में स्नान किया, फिर भ० आदिनाथ (बदरीनाथ) की मूर्ति के अभिषेक देखे। परिक्रमा में 'आदिनाथ स्तोत्र' का पाठ करने पर दो बार गर्भगृह के द्वार खुल गये। भगवान् आदिनाथ के स्मरण का ऐसा ही प्रभाव है। 'मनुस्मृति' में लिखा है—

“अष्टपष्टिषु तीर्थेषु यात्रायाः यत्फलं भवेत्।

श्री आदिनाथदेवस्य स्मरणेनापि तद् भवेत्।।”

अर्थः—अड़सठ तीर्थों की यात्रा का जो फल होता है; वह फल श्री आदिनाथ स्वामी के स्मरणमात्र से मिल जाता है।

दि० 28/5/98 को बद्रीनाथ देवभूमि-प्रांगण से प्रातः 9 बजे वापिस लौटे। रात्रि 9.00 बजे श्रीनगर-गढ़वाल दि० जैन मन्दिर पहुँचे। मध्याह्न भोजन जोशीमठ में किया। दि० 30/5/98 को भ० ऋषभदेव के इस मन्दिर में अभिषेक किये। 'श्रुतपंचमी' के उपलक्ष्य में सरस्वती-पूजा की। मध्याह्न में यहाँ से प्रस्थान किया। टिहरी बाँध होते हुये सघन वृक्षाच्छादित अति-उत्तुंग पर्वत-मालाओं से युक्त प्राकृतिक सुषमा के वैभव को निहारते हुये हम रात्रि 9 बजे मसूरी पहुँचे। यहाँ पर हम जैन धर्मशाला में ठहरे।

दि० 31/5 को मसूरी के दिगम्बर जैन मन्दिर में पूजा-अर्चना की। मसूरी-देहरादून से 40 कि०मी० दूरी पर स्थित देश का व्यस्तत पर्यटक-नगर है। यहाँ से पहाड़ियों के सुन्दर दृश्य दिखते हैं। इन दिनों यहाँ का मौसम समशीतोष्ण रहता है।

दि० 1 जून '98 को दि० जैन मन्दिर मसूरी के दर्शन करके प्रातः 7.30 बजे यहाँ

से सहस्रधारा पहुँचे और शीतल जल से स्नान किया। मध्याह्न देहरादून दिगम्बर जैन मन्दिर में दर्शनकर भोजन किया। सायं मोदीनगर में पुनः भ० श्री शान्तिनाथ की विशाल प्रतिमा के दर्शन किये। यहाँ से रात्रि में दिल्ली की ओर प्रस्थान कर दूसरे दिन दि० 2/6/98 को प्रातः 8.00 बजे जयपुर पहुँचे।

श्रद्धालु और धर्मप्रेमी भारतीय जनता ने सैकड़ों वर्षों पूर्व से उत्तराखण्ड की यात्रा की है। उस समय महीनों बीहड़ जंगलों में चलना पड़ता था। आज अच्छी सड़कें, यातायात, आवास, पेयजल आदि की व्यवस्था है। वे तीर्थ हमारी आध्यात्मिक प्रेरणा के केन्द्र तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के आगार हैं। इन तीर्थधामों के चरों ओर ऊँचे-ऊँचे हिमानी शिखर, मनोरम घाटियाँ, छल-छलाती नदियाँ, पर्वतों से गिरनेवाले झरनों का मधुर संगीत, पक्षियों के दिव्यगान, ऊष्ण जलकुण्ड, मनोहर तालाब आदि प्रकृति के अनेक चामत्कारिक रूप यहाँ देखने को मिलते हैं। बद्रीनाथ की इस दुर्गम पर्वतीय यात्रा को सुगम बनाने में बुन्देलखण्ड यात्रा-संघ जयपुर के श्री प्रकाश चन्द जी तेरापंथी एवं श्री नेमिचन्द जी काला की सफल भूमिका रही है। यात्रा-मार्ग आवासादि का कष्ट अपने गन्तव्य पर पहुँच मन्तव्य को पाकर सुख में परिवर्तित हो जाता है। और पुनः नवीन यात्रा की प्रेरणा देता है — “क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते।”

भारतीय संस्कृति में तीर्थयात्रा का ऐसा ही आध्यात्मिक आनन्द होता है। प्रकृति के शान्त-एकान्त-सौम्य वातावरण में आत्म-साधना का अप्रतिम सुख होता है।



प्रेरक-प्रश्न 2

संकल्प शक्ति के धनी

बालक सुरेन्द्र उपाध्ये (आचार्यश्री विद्यानन्द जी का गृहस्थावस्था का नाम) ने वैराग्य की प्रबलता होने पर आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी के संघ में जाकर उनसे त्यागमार्ग पर आने के लिए अनुमति एवं दीक्षा माँगी, तो आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी ने कहा कि “पहिले प्रतिमायें लो। तथा प्रतिमा भी तभी मिलेंगी, जब प्रतिदिन शास्त्र की एक गाथा या श्लोक याद करके सुनाओगे। प्रतिदिन नई गाथा, नया श्लोक याद करके सुनाये बिना आहार के लिए नहीं उठ सकोगे।” यह आज्ञा सविनय शिरोधार्य कर बालक सुरेन्द्र ने प्रतिमायें अंगीकार कीं तथा आगे क्षुल्लक दीक्षा देते समय भी आचार्यश्री महावीरकीर्ति जी ने यही नियम रखा। क्षुल्लक पाश्र्वकीर्ति बनने पर भी आपने यह नियम अलंघ्य बनाये रखा तथा प्रतिदिन एक न एक नवीन गाथा या श्लोक याद कर लेने के बाद ही आपने आहार लिया।

जिनधर्म-प्रभावक आचार्यश्री विद्यानन्द जी

—डॉ० रमेशचन्द्र जैन

वर्ष 1969 में बिजनौर में यह चर्चा सुनायी दी कि पूज्य मुनिश्री 108 विद्यानन्द जी बद्दीनाथ की ओर जाना चाहते हैं। उन दिनों मुनिश्री विद्यानन्द जी की कीर्ति सारे भारत में फैल चुकी थी। बिजनौर के जैन समाज के अध्यक्ष सुप्रसिद्ध समाजसेवी बाबू रतनलाल जी ने पूरे जिले के गणमान्य व्यक्तियों की सभा बुलाई और सभा में उपस्थित महानुभावों ने सर्वसम्मति से निर्णय किया कि मुनिराजश्री को बिजनौर आमन्त्रित करने हेतु पूरे जिले के प्रमुख लोग सहारनपुर जायें और उनसे बिजनौर पधारने हेतु प्रार्थना करें। योजनानुसार सभी ने बिजनौर से सहारनपुर की ओर प्रस्थान किया; क्योंकि मुनिराजश्री का चातुर्मास उस वर्ष सहारनपुर में हुआ था। सभी ने पूज्य मुनिराजश्री के चरणों में विनय और भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और प्रार्थना की कि आपका विहार चूँकि बद्दीनाथ की ओर होने जा रहा है, अतः आप बिजनौर तथा नजीबाबाद के रास्ते से ही हिमालय की ओर प्रस्थान करें।” पूज्य मुनिराजश्री ने सभी को आशीर्वाद दिया और आश्वसन दिया कि “बिजनौर तथा नजीबाबाद के रास्ते से आए, तो कम से कम 3-3 दिन का समय दोनों स्थानों को अवश्य देंगे।”

पुण्ययोग से मुनिश्री का मंगलविहार बिजनौर के रास्ते से ही हुआ। बिजनौर की जैन-अजैन जनता ने मुनिश्री के स्वागत में पलक-पाँवड़े बिछा दिए। बिजनौर के प्रवासी श्रेष्ठी लाला राजेन्द्र कुमार जैन तथा उनके भाई जगत् प्रकाश जैन सपरिवार दिल्ली से बिजनौर आए तथा कई दिनों तक ठहरे। बिजनौर में महाराज श्री ने अपनी चर्चा और प्रवचनों की अमिट छाप छोड़ी। उन दिनों जो उनकी धर्मसभाओं में उपस्थित थे, वे अजैन भाई तक विशेषरूप से आज भी मुनिश्री को श्रद्धापूर्वक याद करते हैं।

नजीबाबाद में आदरणीय साहू शान्ति प्रसाद जी सपरिवार आए हुए थे तथा प्रतिदिन पूज्य मुनिराजश्री की धर्मसभा में अपनी धर्मपत्नी सौ० रमा जैन के साथ उपस्थित होते थे। मुनिराजश्री मूर्तिदेवी सरस्वती इण्टर कॉलेज के परिसर में ठहरे हुए थे। नजीबाबाद के बाद हरिद्वार के रास्ते वे बद्दीनाथ की यात्रा को प्रस्थान कर गए। सब जगह उन्होंने जैनधर्म की अपूर्व धर्मप्रभावना की। उस वर्ष उनका चातुर्मास श्रीनगर (गढ़वाल) में हुआ। समाचार-पत्रों में निरन्तर उनके समाचार प्रकाशित होते रहे। उनकी बद्दीनाथ यात्रा का सांगोपांग वर्णन करने वाली एक पुस्तक भी प्रकाशित हुई, जो ‘हिमालय में दिगम्बर मुनि’ शीर्षक से बहुचर्चित हुई।

वर्ष 1974 में देशव्यापी स्तर पर भगवान् महावीर का 2500वाँ निर्वाणोत्सव मनाया गया, जिसे मनाने में पूज्य मुनिराजश्री के मार्गदर्शन का लाभ सारे समाज को मिला। स्थान-स्थान पर केन्द्रीय और प्रान्तीय धर्मचक्रों का प्रवर्तन हुआ। केन्द्रीय धर्मचक्र-प्रवर्तन

का उद्घाटन देश की लोकप्रिय प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी के करकमलों से हुआ। पूज्य मुनिराज श्री की प्रेरणा से देश के मूर्द्धन्य विद्वानों का बड़ी संख्या में दिल्ली के 'विज्ञान भवन' में समारोहपूर्वक सम्मान किया गया। विद्वानों को पूरी तरह से महत्ता प्रदान कराने और समाज के मंच से एक साथ सम्मानित करने के प्रयास में पूज्य मुनिश्री की बहुत बड़ी सूझबूझ थी। इससे विद्वानों में स्वाभिमान जागा और जिनवाणी की सेवा का अपूर्व उत्साह उनके मन में संचारित हुआ। सभी ने इस कार्यक्रम की भूरि-भूरि प्रशंसा की। इसी अवसर पर नई दिल्ली में कुन्दकुन्द भारती की स्थापना की गई, जो धीरे-धीरे प्राकृतविद्या और जैनधर्म के प्रचार-प्रसार का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बनता जा रहा है।

1981 में गोम्मटेश्वर बाहुबलि की मूर्ति स्थापना का सहस्राब्दी वर्ष समारोह विशाल स्तर पर मनाया गया, जिसमें पूज्य मुनिश्री पधारे और उनके सत्प्रयास से समाचार माध्यमों द्वारा देश, विदेश में महोत्सव को अच्छी ख्याति मिली। देश के प्रमुख मुनिगण भी इन दिनों श्रवणबेलगोला पधारे और वहाँ अभूतपूर्व मुनि-सम्मेलन इस बीसवीं सदी का आयोजित हुआ। उपस्थित मुनि-समुदाय ने एकमत से कुछ महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए, जिनका देशभर में व्यापक प्रचार हुआ। महोत्सव के अवसर देश की प्रधानमन्त्री श्रीमती इंदिरा गाँधी भी पधारीं और उन्होंने मुनिश्री का आशीर्वाद लेकर अपने को धन्य माना। जब समारोह मनाकर वे दिल्ली वापिस लौटीं, तो संसद भवन में कुछ लोगों ने उन पर व्यंग्योक्तियों का प्रयोग किया कि "क्या आप जैन हो गयी हैं?" श्रीमती इंदिरा गाँधी ने उन्हें जवाब दिया कि "मात्र वे ही क्या सारा भारत राष्ट्र जैन है; क्योंकि राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी इस धर्म के सिद्धांतों से प्रभावित थे और आज समूचा भारत राष्ट्र भगवान् महावीर के अहिंसा सिद्धान्त तथा उनके बतलाये हुये मार्ग पर चल रहा है।"

1983 ई० में कुम्भोज बाहुबली क्षेत्र पर कुछ लोगों ने उपद्रव किया। पूज्य मुनिराज श्री ने अहिंसक प्रतीकार द्वारा उनका डटकर मुकाबला किया और इसप्रकार एक समूचे क्षेत्र को उपद्रवियों के हाथों में जाने से रोका तथा उसका पर्याप्त विकास कराया।

1985 ई० में इन्दौर में गोम्मतगिरि तीर्थ का निर्माण मुनिश्री की पावन सन्निधि में हुआ। आज यह देश का एक दर्शनीय तीर्थ बन गया है। पूज्य मुनिश्री विद्यानन्द जी की प्रेरणा से वर्ष 1985-87 को 'शाकाहार, सदाचार और श्रावकाचार वर्ष' के रूप में मनाया गया। 1988 ई० में आचार्यश्री विद्यानन्द जी की प्रेरणा से 'आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी वर्ष' के रूप में सारे देश में मनाया गया।

बड़वानी में विशालकाय भगवान् ऋषभदेव की प्रतिमा का क्षरण हो रहा था। भूस्खलन, पानी के रिसाव आदि से प्रतिमा के अस्तित्व पर ही संकट आ रहा था। प्रतिमा पर आए इस संकट को दूर करने हेतु विविध उपाय किये गये और 1989 ई० में 'बावनगजा महामस्तकाभिषेक' का कार्यक्रम जोरो-शोरो से हुआ।

वर्ष 1998 में महावीर जी में स्थित भगवान् महावीर की प्रतिमा के 1000 वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में 'सहस्राब्दी समारोह' बड़े पैमाने पर मनाया गया, जिसमें श्रावक सम्मेलन, विद्वत् सम्मेलन, महिला सम्मेलन आदि अनेक कार्यक्रमों के साथ अभिषेक का कार्यक्रम प्रतिदिन बड़ी व्यवस्थित रीति से चलता रहा। इस अवसर पर आचार्यश्री विद्यानन्द जी की उपस्थिति ने समारोह में चार चाँद लगा दिये।

विगत कुछ वर्षों से पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी एक अनोखे अभियान में लगे हुए हैं। वे पूरे राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्राकृत की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं। इस हेतु देश के विश्वविद्यालयों में प्राकृत का पाठ्यक्रम चालू कराने हेतु उन्होंने अपने प्रयास प्रारम्भ कर दिये हैं। आचार्यश्री की यह विशेषता है कि जिस कार्य को हाथ में लेते हैं, उसे सर्वोच्च शिखर पर पहुँचाकर ही चैन लेते हैं। उनकी यह हार्दिक अभिलाषा है कि संस्कृत अकादमी की तरह देशों में 'प्राकृत अकादमी' की स्थापना हो तथा 'प्राकृत' को लोग 'संस्कृत' के समान ही जानें, समझें। कुन्दकुन्द भारती से त्रैमासिक रूप में प्रकाशित होने वाली 'प्राकृतविद्या' पत्रिका ने जैन पत्रिकाओं में मूर्द्धन्य स्थान बना लिया है। जिस शौरसेनी के गौरव को लोग भूलते जा रहे थे, उसे प्राकृत-साहित्य की उपलब्ध सबसे प्राचीन भाषा सिद्ध करने और बड़े-बड़े विद्वानों को अपनी मान्यता से सहमत करने का आचार्यश्री का प्रयास आज के विद्वत्समुदाय में आदर की दृष्टि से देखा जाता है। शौरसेनी में निबद्ध दिगम्बर आगम प्राकृतभाषा की दृष्टि से सबसे प्राचीन आगम है, इसका उद्घोष पूरी सामर्थ्य के साथ करने वाले आचार्यश्री विद्यानन्द जी समाज को अपने भाषायी इतिहास के गौरव की याद दिलाने के कारण जन-जन में और भी अधिक श्रद्धा के केन्द्र बन गये हैं। उनकी प्रेरणा से प्राकृत जन-जन में लोकप्रिय होगी तथा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उसका अध्ययन भारतीय संस्कृति और साहित्य की जानकारी के लिए अनिवार्य माना जायगा।



कष्टकर शत्रु का लक्षण

प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्ष दातारमेव च ।

कृतज्ञं धृतिमन्तं च कष्टमाहुररिं बुध्नः ।।' —(मनुस्मृति, 7/210)

भावार्थ:—नित्य इस बात का सतर्क रहकर दृढ़ता के साथ विवेक रखें कि कभी भी बुद्धिमान्, कुलीन, शूरवीर, चतुर, दानदाता, कृतज्ञ व्यक्ति और धैर्यवान् पुरुष को शत्रु न बनाये; क्योंकि जो ऐसे को शत्रु बनायेगा, वह सदा दुःख की पायेगा। ***

सज्जनों को वैभव से मद नहीं होता है

“मज्जहि विहवहि ण महाणुभाव ।” —(वड्ढमाणचरिउ, 8/7/9-985)

अर्थ:—महानुभाव व्यक्ति कभी भी अपने वैभव के कारण मदोन्मत्त नहीं होते हैं।

बिहार के कुछ पवित्र जैन-तीर्थ

—रूपकमल चौधरी

जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के द्वारा प्रवर्तित परम्परा में आज से लगभग 2600 वर्ष पूर्व चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर का आविर्भाव स्व-पर के कल्याण के लिए हुआ था, जिन्होंने संसार के समस्त भोग-विलास का परित्याग कर मनुष्य को सत्य और ज्ञान के पथ पर प्रेरित किया था। वर्तमान समय में मनुष्य भौतिकता की चकाचौंध से भ्रमित धर्म-अधर्म का भेद भूल गया है। ऐसी परिस्थितियों में जैनधर्म आज भी अप्रासंगिक नहीं हुआ है, वह समाज के लिए आज भी अमृतस्वरूप है। यह वाणी शाश्वत है, जिसे काल का प्रवाह कभी धूमिल नहीं कर सकता। भगवान् महावीर का आविर्भाव बिहार में हुआ था, अतः यहाँ कई पवित्र जैन-तीर्थ हैं; उनमें से कुछ स्थानों का विवरण इसप्रकार है—

कुण्डग्राम (वैशाली):—भगवान् महावीर का आविर्भाव वैशाली (बसाढ़) स्थित कुण्डग्राम में हुआ था।¹ 'आधुनिक बसाढ़ ही वैशाली थी' —कनिंघम द्वारा प्रस्तावित यह तथ्य असंदिग्ध है। डॉ० टी० ब्लाख द्वारा 1903-04 में इस स्थान पर पुरातत्वीय उत्खनन किया गया था। ब्लाख ने 'राजा बिशाल का गढ़' नामक एक टीले पर खुदाई करवायी थी।² यहाँ एक छोटे कक्ष से उपलब्ध मिट्टी की सात सौ मुहरें मिली थीं। ये ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त मूल्यवान हैं। ये मुहरें पत्रों या अन्य साहित्यिक आलेखों के ऊपर लगायी जाती थीं। ये अंशतः अधिकारियों और अंशतः अशासकीय व्यक्तियों साधारणतः व्यापारियों या श्रेष्ठियों से संबंधित थीं।³

यह नगर जैन एवं बौद्ध दोनों धर्मों के प्रारंभिक इतिहास से घनिष्ठरूप से संबंधित थी। 500 ई०पू० यहीं से विकसित होने वाले दोनों धर्मों ने सम्पूर्ण पूर्वोत्तर भारत पर प्रभाव डाला था। अतः यह स्थान दो महान् धर्मों के प्रवर्तकों की पुण्य-स्मृतियों से जुड़ा है। जैनधर्म के प्रवर्तक महावीर को वैशाली अपना ही नागरिक मानती है। इसीलिए उन्हें 'बिसालिए' या 'वैशालिक' या 'वैशाली नगर का निवासी' कहा जाता था।⁴

वैशाली एक वैभवपूर्ण, समृद्धिशाली, जनसंकल्प और प्रचुर खाद्य-सामग्री वाला नगर था। यहाँ अनेक ऊँचे भवन, कंगूरेदार इमारतें, प्रमद-वन एवं पुष्कर थे।⁵ विशाल क्षेत्र अर्थात् लंबाई और चौड़ाई में विशाल होने के कारणस इसका नाम 'वैशाली' था। कुण्डग्राम ही महावीर (जैन-तीर्थंकर) का जन्म स्थान है। वे बुद्ध के प्रायः समकालीन थे। कुण्डग्राम वैशाली या बसाढ़ का एक उपनगर था। भगवान् महावीर ज्ञातृक गोत्र में उत्पन्न हुए थे। इनकी माता का नाम त्रिशला और पिता का नाम सिद्धार्थ था। इनका जन्म 599 ई०पू० में हुआ था। वैशाली के कई उपनगरों का नाम पालि-साहित्य में मिलता है, यथा—कोल्लाग, नादिक, वणियग्राम, हत्थीग्राम इत्यादि⁶। वणियग्राम ही आधुनिक वाणिज्यग्राम है, जहाँ पुरातत्त्व की अनेक सामग्री मिली हैं। यहीं वैशाली-संघ का एक अरक्षित अव्यवस्थित एक छोटा-सा संग्रहालय है।

बारबर या खलतिक पहाड़:—गया-पटना रेल-पथ पर बेला स्टेशन से आठ मील पूर्व पर यह पहाड़ी स्थित है। इस पहाड़ी में सात प्राचीन गुफाएँ हैं, इसलिए इसे 'सतधरवा' भी कहते हैं। इनमें से तीन में अशोक के अभिलेख अंकित हैं। इनसे विदित होता है कि मूलतः इनका निर्माण अशोक के समय आजीवक सम्प्रदाय के भिक्षुओं के निवास के लिए करवाया गया था। यह सम्प्रदाय बुद्ध के समकालीन आचार्य मक्खली गौसाल ने चलाया था। अशोक के अभिलेखों से उसकी सब धार्मिक सम्प्रदायों के साथ निष्पक्ष नीति का प्रमाण मिलता है। अशोक के अतिरिक्त उसके पौत्र दशरथ (जो जैन था) के अभिलेख भी इन गुफाओं में अंकित हैं। इसे 'नागार्जुनी गुफा' भी कहते हैं। इसमें परवर्तीकाल के अन्य अभिलेख भी मिलते हैं। मौखरि-वंश के अनन्तवर्मन का एक तिथिहीन अभिलेख का विषय यह है कि 'उसने गुहा-मंदिर में एक कृष्ण की मूर्ति की प्रतिष्ठा करवाई थी।' इन गुफाओं का वर्तमान नाम सुदामा, लोमष ऋषि, रामाश्रय, विश्व झोंपड़ी, गोपी, वेदायिक आदि है।⁷

चम्पापुरी (भागलपुर):—जैन-ग्रंथ 'औपपातिक सूत्र' में तोरणों, प्राकारों, प्रासादों, उपवनों और बागों से अलंकृत एक नगर के रूप में इसका उल्लेख हुआ है। इसके अनुसार धन, ऐश्वर्य, आन्तरिक आनन्द एवं सुख से परिपूर्ण यह नगरी वस्तुतः धरती का स्वर्ग थी।⁸ यहीं वासुपूज्य नामक बारहवें तीर्थंकर उत्पन्न हुए थे, जिन्होंने केवलज्ञान और निर्वाण प्राप्त किया था।⁹ यहीं राजा करकण्डु ने कुण्ड सरोवर में पाश्र्वनाथ की प्रतिमा अधिष्ठित की थी। श्रेणिक के पुत्र कुणिक ने अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् राजगृह त्यागकर चंपापुरी को अपनी राजधानी बनाया। इस नगर को चंपानगर, चंपामालिनी, चंपावती, चंपापुरी और चंपा आदि विविध नामों से पुकारा जाता था। यह अंगदेश की राजधानी थी।

बुद्ध एवं महावीर के आगमन के कारण इस नगर की श्रीवृद्धि हुई थी।¹⁰

मंदार पहाड़ी:—बिहार में भागलपुर से रेल और सड़कमार्ग से लगभग 45 कि०मी० दक्षिण में मंदार पहाड़ी अवस्थित है।¹¹ यहाँ दूर-दूर से भारत के विभिन्न भागों से जैन तीर्थयात्री प्रायः आते हैं। इस पहाड़ी पर वासुपूज्य की स्मृतियों से संबंधित एक जैन-मंदिर है। जो जैनधर्म में बारहवें तीर्थंकर थे। इन्होंने चम्पानगर में जन्म ग्रहण किया था और संभवतः इसी पहाड़ी पर तपस्या करके कैवल्यज्ञान प्राप्त किया था। प्रकृति ने इसे सुन्दर रूप प्रदान किया है और यह आज भी तपस्या के लिए अनुकूल है। इस पहाड़ी पर दो गुफा हैं, जिसे प्रकृति ने तपस्वियों को शीत, ताप और वर्षा से रक्षा करने के लिए निर्मित किया है। यह वन्य-पशुओं से भी रक्षा का एक साधन रहा होगा। पहाड़ी 600 फीट की ऊँचाई पर सर्वदा जल उपलब्ध (वर्तमान समय में भी) रहता है। इसकी ऊँचाई लगभग 700 फीट है।¹² इस पहाड़ी से 3 मील दक्षिण में 'बौसी' नामक स्थान पर एक प्राचीन जैनमंदिर भी है।

पारसनाथ:—यह बिहार के हजारीबाग जिले में अवस्थित लगभग 5000 फीट ऊँची एक पहाड़ी है, जहाँ जैन-तीर्थयात्री प्रायः आते हैं। हिमालय के दक्षिण में यह सबसे ऊँचा पहाड़ है। यह न केवल पर्याप्त ऊँचाईवाला पहाड़ है, बल्कि यह अत्यन्त सुंदर भी है। इसके शिखर पर

एक दिगम्बर जैन मंदिर और इसके तल में भी कई दिगम्बर जैन मंदिर हैं। यह 'सम्मेशिखर' नाम से भी विख्यात है। यह वन्य पशुओं से युक्त घने जंगल से आकर्षण है। तीर्थंकर पार्श्वनाथ निर्वाण-प्राप्ति से पूर्व इस पहाड़ी पर आये थे और उन्होंने यहीं मुक्ति प्राप्त की थी।¹³

पावापुरी:—इसका प्राचीन नाम 'पापा' या 'अपापपुरी' था। इसी स्थान पर भगवान् महावीर ने अपने नश्वर शरीर का त्याग किया था। वे 'पापा' राजा के वृष्टिपाल के प्रासाद के पीछे अनेक सरोवर के मध्य स्थित उच्चभागस्थ महामणि शिलातल पर रुके थे। यह स्थान बिहार में गिरियेक से तीन मील उत्तर में स्थित एक गाँव में अवस्थित है।

भगवान् महावीर ने जिस स्थान पर नश्वर शरीर का परित्याग किया था, वहाँ सुन्दर जैन मंदिर बनवाये गये थे। उनके परिनिर्वाण की स्मृति के लिए भी भक्तजनों ने कार्तिककृष्ण अमावस्या की रात्रि को प्रकाश-सज्जा की प्रथा यह कहकर आरंभ की थी कि "चूँकि ज्ञान का प्रकाश चला गया, इसलिए हम सबको भौतिक पदार्थों के माध्यम से प्रकाश करना चाहिए।"

स्वामी विवेकानन्द चम्पानगर (नाथनगर) भागलपुर के जैन-मंदिर को देखने आये थे और वहाँ उन्होंने जैनाचार्यों से धर्मालाप भी किया था।¹⁴ मंदार (बाँसी) क्षेत्र के बच्चे विद्यालय में छुट्टी होते ही आज भी 'ओ ना मासी घं' का नारा लगाते, आनन्द और उल्लास का प्रकाश करते, घर की ओर दौड़ते आते हैं। संभवतः वे "ऊँ नमः सिद्धम्" ही कहते हैं, जिससे यह प्रमाणित होता है कि पुराकाल में इस क्षेत्र पर जैनधर्म का व्यापक प्रभाव रहा होगा।

पाद-टिप्पणी

1. ऐतिहासिक स्थानावली, पृ० 97।
2. प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, पृ० 445 (आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया एनुअल)।
3. वही, पृ० 445 (आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, 1903-04, पृ० 74, रिपोर्ट 1903-04 पृ० 74)।
4. वही, पृ० 446 (सूत्राज, सैक्रेड बुक ऑफ द इस्ट, भाग-1, इन्ट्रोडक्शन, XI)।
5. वही, सैक्रेड बुक ऑफ द इस्ट, पृ० 171, भाग-III।
6. ऐतिहासिक स्थानावली, पृ० 197।
7. वही, पृ० 610।
8. प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, पृ० 360 (सम जैन कैनॉनिकल सूत्राज, पृ० 73 एवं 176)।
9. वही, पृ० 360 एवं ए० स्थाना० पृ० 321 तथा जैनिज्म इन नार्थ इंडिया, पृ० 26।
10. वही, पृ० 346 (एस० स्टीपेन्सन, हार्ट ऑफ जैनिज्म, पृ० 41)।
11. वही, पृ० 395 (कार्पस इन्सक्रिप्सन्स इंडिकेरम, पृ० 211, आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, VIII, पृष्ठ 130) यह पहाड़ी लगभग 700 फीट ऊँची है। फ्लिट के अनुसार यह भागलपुर से लगभग 35 मील दक्षिण में स्थित है।
12. आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, VIII, पृ० (उद्धृत प्रा०भा० का ए० भूगोल, पृ० 395)।
13. प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल, पृ० 416-417।
14. स्वामी विवेकानन्द अगस्त, 1891 ई० में भागलपुर आये थे और उन्होंने वहाँ जैन आचार्यों से वार्तालाप भी किया था। अपने सुदीर्घ-भ्रमण में आबू-पर्वत (राजस्थान) स्थित जैनमंदिर भी देखने गये थे और उसके पास स्थित गुफा में उन्होंने कुछ दिनों तक वास भी किया था।—युगनायक विवेकानन्द, पृ० 188, प्रथम भाग (बंगला ग्रंथ)



पुस्तक-समीक्षा

(1)

पुस्तक का नाम :	प्रमेयकमलमार्तण्ड-परिशीलन
लेखक :	प्रो० उदयचन्द्र जैन
प्रकाशक :	प्राच्य श्रमण भारती, 12/1, प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर-251001 (उ.प्र.)
मूल्य :	पचास रुपये, (डिमाई साईज़, पेपरबैक, 38+284 पृष्ठ)
संस्करण :	प्रथम संस्करण 1998, ई०

भट्ट अकलंकदेव के वचनामृत-सिन्धु से न्याय के रत्नों को चुनकर आचार्य माणिक्यनन्दि जी ने 'परीक्षामुखसूत्र' नामक जैनन्याय के आद्यसूत्रग्रंथ का प्रणयन किया। इस पर प्रमेयरत्नमाला (लघु अनन्तवीर्यकृत), प्रमेयरत्नालंकार (18वीं शताब्दी के भट्टारक चारुकीर्ति-विरचित), न्यायमणिदीपिका (अजितसेन रचित) आदि टीका ग्रन्थों के अतिरिक्त पं० जयचंद जी छाबड़ा की 'भाषावचनिका' एवं पं० विजयचन्द्र विरचित 'अर्थप्रकाशिका' नामक व्याख्या भी मिलती है। किन्तु 'परीक्षामुखसूत्र' के सूत्रों का जैसा प्राञ्जल एवं विस्तृत भाष्य आचार्य प्रभाचन्द्र जी ने 'प्रमेयकमल-मार्तण्ड' नामक ग्रंथ में किया है, उतना कहीं नहीं मिल पाता है। इसमें दार्शनिक गहराईयों को न्याय की सूक्ष्म प्रज्ञा से मत-मतान्तर की संतुलित एवं विशद समीक्षापूर्वक विवेचित किया गया है।

इस ग्रंथ पर स्वनामधन्य विद्वद्वर्य डॉ० महेन्द्र कुमार जी न्यायाचार्य ने जो कार्य किया था, वह अपने आप में एक 'मील के पत्थर' की भाँति अविस्मरणीय एवं अतिमहत्त्वपूर्ण है। न्यायाचार्य डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया ने भी इस क्षेत्र में कई महत्त्वपूर्ण दिशानिर्देश खोज निकाले हैं। उन सबको दृष्टिगत रखकर अनतिविस्तार एवं सुबोधगम्यता की दृष्टि से डॉ० उदयचन्द्र जैन वाराणसीवालों ने यह कृति निर्मित की है।

इसमें प्रारंभिक 242 पृष्ठों में 'परीक्षामुखसूत्र' के छहों परिच्छेदों के सूत्रों का प्रमेयकमलमार्तण्डकार के भाष्य को सरलीकृत करके संक्षिप्तरूप में प्रस्तुत किया है। वह अपने आप में श्रमसाध्य एवं प्रतिभाद्योतक रहा है। इसके बाद जो प्रथम परिशिष्ट के अन्तर्गत 'कुछ विचारणीय' बिन्दुओं की चर्चा विद्वान् लेखक ने की है, उनमें से एक-दो बिन्दु वस्तुतः विचारणीय हैं; क्योंकि विद्वान् लेखक के अपने दिशानिर्देशों से जैनगम की मान्यतायें एवं अवधारणायें पूर्णतः मेल नहीं खाती हैं। फिर भी विचार-सामग्री उन्होंने अपनी ओर से आधार-सहित ही प्रस्तुत की है, भले ही वे आधार आधुनिक विद्वानों के विचार रहे हों। कुल मिलाकर यह कृति संग्रहणीय तो है ही; पठनीय, मननीय एवं चर्चनीय भी है। इस श्रेष्ठ कार्य के लिए विद्वान् लेखक एवं प्रकाशक—दोनों ही साधुवाद के पात्र हैं।

—सम्पादक * * *

ग्रंथ का नाम	: ध्यानोपदेशकोष (योगसार संग्रह)
ग्रंथकर्ता	: आचार्यश्री गुरुदास
संपादन एवं अनुवाद	: ब्र० विनोद जैन, ब्र० अनिल जैन
प्रकाशक	: पोतदार धार्मिक एवं पारमार्थिक न्यास, टीकमगढ़ (म०प्र०)
प्रकाशन वर्ष	: प्रथम संस्करण, 1999 ई०
मूल्य	: पैंतीस रुपये, (डिमाई साईज, कागज-गत्ते की जिल्द, 108 पृष्ठ)

आचार्यश्री गुरुदास जी की इस कृति का मूलनाम 'ध्यानोपदेशकोष' ग्रंथ के प्रशस्तिपद्यों में आया है जबकि 'योगसारसंग्रह' बाद में नामान्तर प्रसिद्ध हुआ प्रतीत होता है। इस ग्रंथ पर डॉ० ए०एन० उपाध्ये जैसे गुरुगंभीर विद्वान् ने संपादन-कार्य किया है तथा इसका प्रकाशन 'भारतीय ज्ञानपीठ' जैसी प्रतिष्ठित प्रकाशक-संस्था के द्वारा हो चुका है। इसका उपर्युक्त संस्था (पोतदार ट्रस्ट) द्वारा पुनः प्रकाशन कराया गया है।

इसके पुनःसंपादन में मूल पद्यों के पाठ जिस तरह से असावधानीपूर्वक प्रकाशित हुये हैं, उन्हें देखकर यह भाव जगता है कि क्या ही अच्छा होता कि उक्त आधुनिक संपादकद्वय (ब्र० विनोद जैन एवं ब्र० अनिल जैन) डॉ० उपाध्ये जी के मूलपाठों को ही यथावत् रखकर प्रकाशित करा देते, तो आचार्य-विरचित मूलग्रंथ का स्वरूप तो प्रामाणिक बना रहता।

उक्त सम्पादकद्वय से बहुत श्रमपूर्वक ज्ञानार्णव, तत्त्वानुशासन एवं आचार्य कुन्दकुन्द-साहित्य से कई समानान्तर उद्धरण खोजकर प्रस्तुत तो किये हैं; परन्तु उनका सम्पादन, अनुवाद एवं प्रकाशन —तीनों ही किसी विशेषज्ञ विद्वान् के द्वारा निरीक्षण एवं व्यापक संशोधन की अपेक्षा रखते हैं। मैं प्रायः लिखता रहता हूँ कि जैनसमाज में पदों एवं आर्थिक संसाधनों से लोग प्रायः 'संपादक' पदवी धारण कर लेते हैं, इस कला के विशेषज्ञ वे प्रायः नहीं होते हैं। संपादनकला सूक्ष्मप्रज्ञा की महती साधना से प्राप्त होती है; इसे बच्चों का खेल समझकर हर किसी को नहीं करना चाहिये। इससे हमारे आचार्यों के ग्रंथों का स्वरूप तो बिगड़ता ही है, साथ ही किसी विद्वान् के हाथ में जाने पर आचार्यों के ग्रंथ संपादकीय त्रुटियों के कारण अर्थभ्रम एवं उपहास के पात्र बन जाते हैं। पेपर, प्रिंटिंग एवं बाइंडिंग का पूरा खर्च तो समाज का हो ही जाता है, फिर प्रकाशित कृति का स्वरूप यदि स्तरीय नहीं बन सके, तो इतने खर्च का औचित्य क्या है? —यह विचारणीय है।

इस कृति में 'आदरार्थे बहुवचनम्' जैसे सामान्य शिष्टाचार के प्रयोग तक प्रायः नहीं हैं। आचार्यों को भी एकवचन में संबोधित एवं सूचित किया गया है। 'है' और 'हैं' के प्रयोगों में घोर लापरवाही बरती गयी है। बहुवचनान्त प्रयोगों में भी प्रायः 'है' का प्रयोग किया गया है। कई स्थलों पर तो मूलकारिका के पूरे पाठ भी 'अन्वयार्थ' में नहीं आ पाये

हैं, तो कहीं-कहीं 'अन्वयार्थ' में अपनी ओर से भी पाठ मूलपाठ के रूप में जोड़ दिये गये हैं। अनुवाद जहाँ समझ में नहीं आया, तो वहाँ मूल संस्कृत का पाठ ज्यों का त्यों रख दिया है; जैसेकि 'धर्म अनुप्रेक्षा' के वर्णन-प्रसंग (पृ०79) में 'धर्मस्वाख्यातत्त्वानुप्रेक्षा' इस मूलपाठ का अनुवाद करते समय 'धर्मस्वाख्यातत्त्वानुप्रेक्षा है' —यह अनुवाद कर दिया है। 'महत्ता' शब्द के स्थान पर 'महत्त्वता' जैसे विचित्र प्रयोग (पृ०82) किये गये हैं। 'श्रुणोति' (सुनता है) के स्थान पर 'शृणोति' पाठ (कारिका 117) दिया गया है। यह मूलग्रंथ के स्वरूप को विकृत करना है। इसीप्रकार 'आस्रव' और 'आश्रव' के अन्तर का बोध भी नहीं रखा गया है। कारिका 84 में अन्वयार्थ में 'किसी प्रकार का चिंतवन करते रहने से उसके ध्यान का अभ्यास बना रहता है' —यह अपनी ओर से जो वाक्य जोड़ा गया है, वह मूल अर्थ को स्पष्ट करने की जगह भ्रमित करता है। कई जगह कई शब्दों के अर्थ समझ न पाने के कारण छोड़ भी दिये हैं। उद्धृत गाथाओं/पद्यों का अर्थ करते समय 'अर्थ' शीर्षक कहीं दिया है, तो कहीं यों ही छोड़ दिया है। सम्पादन एवं पूर-संशोधन-सम्बन्धी त्रुटियाँ तो प्रतिपृष्ठ पच्चीस के औसत से विद्यमान हैं।

अनुपलब्ध कृतियों का प्रकाशन निश्चय ही स्तुत्यकार्य है, किंतु उसे करनेवाले व्यक्ति भी उस विद्या के विशेषज्ञ होने चाहिये तथा उन्हें प्रामाणिक रीति से निष्ठापूर्वक संपादन-अनुवाद के कार्य करने चाहिये। उपेक्षापूर्वक, जल्दबाजी में एवं चलताऊ ढंग से किये गये प्रकाशन त्रुटियों के भंडार बनकर धन की तो हानि करते ही हैं, ग्रंथों का स्वरूप भी संदिग्ध बना देते हैं।

अध्यात्म एवं योग-ध्यान जैसे उत्कृष्ट विषयों के इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथरत्न को इन विषयों के साथ-साथ भाषा, संपादनकला एवं अनुवादविधि में निष्णात विद्वान् के द्वारा संपादित किया जाना ही श्रेयस्कर होता। आशा है समाज की प्रकाशन-संस्थायें व व्यक्ति इस क्षेत्र में सीख लेंगे और सुंदर, प्रामाणिक आदर्श प्रकाशनों द्वारा समाज एवं देश में तत्त्वज्ञान का अधिकाधिक प्रचार-प्रसार प्रभावी ढंग से करने की प्रेरणा लेंगे।

वैसे 'ध्यानोपदेशकोष' अपरनाम 'योगसारसंग्रह' नामक यह कृति बहुत दिनों से अनुपलब्ध थी, अतः इसे उपलब्ध कराने की दृष्टि से यह प्रयास प्रशंसनीय है। संस्थाओं एवं विद्वानों को मिलकर यह प्रयत्न करना चाहिये कि अद्यावधि अप्रकाशित ग्रंथों, विशेषतः प्राचीन आचार्यों एवं मनीषियों के मूल एवं टीकाग्रंथों को विधिवत् प्रामाणिक संपादन, अनुवादपूर्वक आदर्श रीति से शुद्ध प्रकाशन करावें। तथा अनुपलब्ध महत्त्वपूर्ण प्रकाशित ग्रंथों को भी पुनः समीक्षणपूर्वक अपेक्षित परिमार्जन के साथ प्रकाशित करावें।

—सम्पादक

‘समयसार’ ही हमारी अस्मिता का प्रतीक है।

● 'प्राकृतविद्या' अप्रैल-जून '99 का अंक प्राप्त कर मन प्रसन्नता से भर गया। सभी लेख भावपूर्ण एवं अपने विषय में महत्त्वपूर्ण हैं, जिससे यह अंक और अधिक विशिष्ट बन गया है। परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज का लेख 'पहिले तोलो फिर बोलो' वक्ताओं के लिए उनके सुदीर्घ जनसम्बोधन अनुभव पर आधारित मार्ग-निर्देशन के गाम्भीर्य की अभिव्यक्ति है। जिसका सभी को लाभ उठाना चाहिए और अपनी सम्बोधन शैली इसके अनुरूप बनानी चाहिए। आचार्यश्री की स्वयं की प्रवचन-शैली सर्वांग परिपूर्ण, गहन अध्ययन एवं चिन्तन पर आधारित सर्वजन-प्रशंसित है।

डॉ० सुदीप जैन के दोनों लेख 'प्रातिभ-प्रतिष्ठा की परम्परा और जैन प्रतिभायें' एवं 'जैन सम्राट् खारवेल' संबंधी शोधपूर्ण हैं। वे जमकर लिखते हैं, नए तथ्यों की परत खोलते हैं। प्राकृतभाषा-विषयक सभी लेख बहुत शोधपूर्ण, परिश्रम से लिखे गये हैं। पंडितप्रवर श्री नाथूलाल जी शास्त्री का लेख तथ्यपरक, समाधानात्मक है।

मित्र आचार्य राजकुमार जैन आयुर्वेद-संबंधी लेखों के सिद्धहस्त लेखक हैं। उनका लेख परिश्रमपूर्ण है। प्रिय (डॉ०) अनुपम जैन भी जैन शोधलेखों मर्मज्ञ लेखक हैं। उनका लघु-लेख सुन्दर है।

उत्कृष्ट लेखों द्वारा पत्रिका की उच्चस्तरीय शोध-प्रवृत्ति स्वयं सिद्ध है। आपके सम्पादन-परिश्रम के लिए साधुवाद। —सतीश कुमार जैन, *अहिंसा इंटरनेशनल* *★*

● 'प्राकृतविद्या' (अप्रैल-जून '99) का अंक प्राप्त हुआ, धन्यवाद। इस अंक में सब लेख पढ़ने योग्य हैं। भाषायें व जैनधर्म की कुछ विशेष बातों की जानकारी इस पत्रिका के माध्यम से हो सकती है। इस पत्रिका के लिये हार्दिक शुभकामनायें हैं। जैन-जगत् की पत्रिकाओं में इस पत्रिका का स्थान ऊँचे दर्जे का है।

प्राकृतविद्या अंक में 'प्रेरक-व्यक्तित्व' लेख डॉ० अभय प्रकाश जी जैन पढ़ा, पढ़कर बहुत खुशी हुई। पाश्चात्य विद्वान् हर्मन-जैकोबी व डॉ० जगदीशचंद्र जी जैन दो मुख्य महानुभावों के जीवन दर्शन पर जानकारी हुई। विदेशों में जैनधर्म के प्रति अनुराग रखने वालों से सम्पर्क किया जाये। इस विशेष बात को ध्यान में रखकर एक संगोष्ठी का चुनाव भी किया जाये। —एस०ए० माणकराण सिंधवी, *वदेवासी, तमिलनाडु* *★*

● 'प्राकृतविद्या' अप्रैल-जून '99 में प्रकाशित आपके गवेषणापूर्ण लेख 'जैन सम्राट् खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख के कतिपय अभिनव तथ्य' के प्रकाशन-हेतु हार्दिक बधाई। प्रभु आपको सरस्वती-सेवा करते रहने की निमित्त चिरायुष्य प्रदान करे।

—रत्नचन्द्र अग्रवाल, *जयपुर* *★*

● 'प्राकृतविद्या' का अप्रैल-जून '99 ई० का अंक मिला, धन्यवाद। अंक न केवल मुखावरण, साजसज्जा में आकर्षक है, बल्कि सारगर्भित सामग्री से भी अलंकृत है। श्रद्धेय

आचार्य विद्यानंद जी का वक्तृत्व पर आधारित लेख बड़ा ज्ञानवर्धक है, मौलिक है। उनकी लेखनी और वाणी की गुणवत्ता किसे प्रभावित न करेगी।

प्राकृत और शौरसेनी भाषा साहित्य के विकास में इस पत्रिका की अपनी पहचान है। शोध-पत्रिका के रूप में इसका अपना महत्त्व है। —निजामुद्दीन, काश्मीर * *

● 'प्राकृतविद्या' का अप्रैल-जून '99 का अंक स्वस्थ सामग्रीमय है। आप बहुत सक्रिय हैं, यह खुशी की बात है। शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी के भाषायी विवाद में हमारे पंडित बाल की खाल निकालने में दत्तचित्त हैं। पत्रिका में सांस्कृतिक मूल्यों पर सामग्री कम आ रही है, कृपया संतुलन बनाए रखें। —रवीन्द्र कुमार जैन, मद्रास * *

● आप द्वारा संपादित 'प्राकृतविद्या' के अंक यथासमय प्राप्त हो रहे हैं। मुझे लिखते हुए प्रसन्नता होती है कि प्रत्येक अंक की सामग्री जो पाठकों को परोसी जा रही है, वह विविध विषयों से भरपूर होने के कारण यथार्थ में पाठक की ज्ञानवृद्धि में सहायक है।

शौरसेनी प्राकृतभाषा-विषयक लेख उसकी प्राचीनता एवं समीचीनता के साथ ही उसकी उपयोगिता व सफलता को भी सिद्ध कर रहे हैं। उत्तर प्रदेश में जन्मी भाषा का दक्षिण में समुद्भव आचार्यों द्वारा आध्यात्मिक एवं सैद्धांतिक जैन-वाङ्मय के लेखन में उपयोग करना उसके गौरव को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। पत्रिका में परमपूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी महाराज के महत्त्वपूर्ण लेखों का प्रकाशित होना तथा आपके विविध आयामी लेखों और संकलित सामग्री का चयन एवं अन्यान्य विद्वज्जनों के वैदुष्यपूर्ण लेखों का होना उसकी उपयोगिता दर्शाने तथा उन्नयन में (पत्रिका के) परम सहायक है।

यदि इसमें धार्मिक कथाओं का भी समावेश किया जाये, तो उपयोगिता और भी बढ़ जायेगी। मैं हृदय से पत्रिका की उन्नति चाहता हूँ। —नाथूराम डोंगरीय जैन, इंदौर * *

● 'प्राकृतविद्या' का संयुक्तांक अंक प्राप्त हुआ, अंक अच्छा है, जानकारी ऐसी मिलती है, जो प्रायः बिना प्रयत्न के उपलब्ध नहीं होती, न ही हो सकती। आशा है साहू जी के जाने के बाद भी प्रगति का क्रम तो चलता रहेगा। उनका योगदान इतना अधिक था कि अगला समय ही मूल्यांकन कर सकेगा। उनकी तत्परता एक बार व्यक्तिगत मुलाकात में जानी जाती थी। —नरेन्द्र कुमार जैन, भोपाल * *

● आप द्वारा सम्पादित 'प्राकृतविद्या' नामक त्रैमासिक पत्रिका का अप्रैल-जून '99 का नया अंक प्राप्त हुआ। पढ़कर विशेष प्रसन्नता हुई। इसमें जो सम्पादकीय एवं अन्य लेख हैं। वे सभी सुरुचिपूर्ण एवं प्राकृतभाषा के प्रचार-प्रसार के साथ ही साथ 'जैनदर्शन की प्रतिष्ठा में चार चाँद' लगते हैं। इसी शृंखला में 'पहिले तोलो फिर बोलो', प्राकृत में नाम, आख्यात, 'उपसर्ग और निपात' तथा 'तिलोपपण्णत्ती', 'पंचत्थिकायसंगहसुत्त' आदि विशेष महत्त्व रखते हैं।

आपके शोधपूर्ण प्रयास एवं कार्य सराहनीय हैं। इसके स्थायी स्तंभ भी व्यापक बौद्धिक आयाम प्रदान करते हैं। —पं० कैलाश चन्द मलैया शास्त्री, फागी (राज०) * *

आचार्यश्री विद्यानंद जी द्वारा 'नियम सल्लेखना' व्रत ग्रहण

धर्मनगरी बड़ौत के श्रीचंद्रप्रभु दिगंबर जैन बड़ा मंदिर के विशाल हाल में हजारों श्रावक-श्राविकाओं की उपस्थिति में बुधवार को ठीक 11 बजकर 22 मिनट पर सिद्धांतचक्रवर्ती आचार्यश्री विद्यानंद जी मुनिराज ने मंत्रोच्चारण-सहित 'नियम सल्लेखना व्रत' का संकल्प लिया।

आचार्यश्री विद्यानंद जी मुनिराज ने इस अवसर पर कहा कि समय-समय पर विदेशियों ने भारत भूमि पर आधिपत्य कर अपनी 'संस्कृति' थोपी, लेकिन श्रमण (जैन) संस्कृति उससे विशेष प्रभावित नहीं हुई। जैन मुनियों, आचार्य शातिसागर, पायसागर, वीरसागर आदि ने 'सल्लेखना व्रत' धारण किया। अन्य संस्कृतियों में इसे आत्महत्या बताया, किंतु जैन धर्मानुयायी इससे विचलित नहीं हुए। क्योंकि जैन साधुचर्या की साधना का यह अंतिम लक्ष्य है।"

इस अवसर पर दिगंबर जैन महाविद्यालय की 'हीरक जयंती' एवं 'मानस्तंभ कलशारोहण महोत्सव' के विद्यानाचार्य पं० गुलाबचंद जी पुष्प, डॉ० सुदीप जैन, डॉ० जयकुमार उपाध्ये, डॉ० श्रेयांस जैन आदि उपस्थित थे।

यह सुसंयोग है कि मुनि-दीक्षा के बारह वर्ष बाद वर्ष 1975 में मुनिश्री विद्यानंद जी प्रथम उपाध्याय पद से विभूषित हुये थे। उसके बारह वर्ष बाद 1987 में आपको आचार्य पद प्रदान किया गया था, तथा अब 12 वर्ष बाद आपने 'नियम सल्लेखना' व्रत धारण किया है।

यह भी शुभ संयोग रहा कि बड़े जैन मंदिर के जीर्णोद्धार के उपरांत इसकी पंच कल्याणक प्रतिष्ठा विद्यानंद जी के सान्निध्य में संपन्न हुई थी। उन्होंने स्थापित की गई मूर्तियों को 'सूर्य मंत्र' दिया था।

* * *

अध्यात्म के आधार पर ही देश का उत्थान संभव : डॉ० जोशी

"भारत एक आध्यात्मिक देश है और उसका उत्कर्ष अध्यात्म के आधार पर ही हो सकता है। ऋषि-मुनियों ने इसे सदा अनुप्राणित किया है। 1857 के स्वतंत्रता-संग्राम का संदेश भी साधुओं ने ही दिया था। अंग्रेजों ने इन सन्यासियों को खत्म करने की चेष्टा की थी, किंतु वे सफल नहीं हुए। आज देश आंतरिक और सीमा पर संकट से घिरा है। ऐसे में हमारी आध्यात्मिक विभूतियों से हमें राष्ट्रप्रेम की प्रेरणा मिलती है।"—

धर्मनगरी बड़ौत (उ०प्र०) में ये शब्द केंद्रीय मानव संसाधन मंत्री डॉ० मुरली मनोहर जोशी ने आचार्यश्री विद्यानंद जी महाराज को विनयांजलि अर्पित करते हुए श्री दिगंबर जैन महाविद्यालय के हीरक जयंती एवं मानस्तंभ कलशारोहण समारोह के अवसर पर विशाल जनसभा को संबोधित करते हुए कहे। डॉ० जोशी ने इस बात पर खेद व्यक्त किया कि "धर्मनिरपेक्षता का गलत अर्थ लगाकर कुछ राजनीतिक तत्त्व देश को हानि पहुँचा रहे हैं। यह कैसी विडम्बना है कि हम अपने ही देश में जिसकी संस्कृति का मूलाधार 'अहिंसा परमो

धर्मः' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' रहा है, अपने पूर्वजों को याद नहीं कर सकते और अपनी संस्कृति की उन गाथाओं की शिक्षा अपने बच्चों और भारत की युवा पीढ़ी को भी नहीं दे सकते, क्योंकि ऐसा करने पर सांप्रदायिकता का आरोप हम पर लग जाता है। धर्मनिरपेक्षता की यह गलत व्याख्या है। वास्तव में हर शिक्षण-संस्था को अपने धर्म की एवं नैतिकता की शिक्षा देने की स्वतंत्रता होनी चाहिए।”

डॉ० जोशी ने जैन समाज के शीर्ष नेता साहू रमेशचंद्र जैन की यह मांग को स्वीकार कर लिया कि भगवान् महावीर की 2600वीं जयंती राष्ट्र स्तर पर मनाए जाने हेतु सरकारी स्तर पर कमेटी शीघ्र गठित की जाएगी। साथ ही पाली, प्राकृत, संस्कृत के संवर्द्धन-हेतु दिगंबर जैन कालेज में स्थापित पीठ की स्थापना में पूर्ण सहयोग का भी उन्होंने आश्वासन दिया तथा प्रबंध-समिति की मांगों की पूर्ति के लिए, जिसमें नवीन पाठ्यक्रम शामिल हैं, में भी अपने मंत्रालय का पूर्ण सहयोग देने का वायदा किया।

क्षेत्रीय सांसद तथा केंद्रीय कृषि राज्यमंत्री श्री सोमपाल शास्त्री ने इस अवसर पर कहा कि “जैनधर्म ने संपूर्ण विश्व के लिए एक जीवन पद्धति दी है। इसमें पानी और वनस्पति के कम से कम दोहन करने पर बल दिया गया है, जबकि आज प्राकृतिक संसाधनों के अत्यधिक दोहन के कारण पानी का अकाल है, भूकंप आदि आ रहे हैं तथा पर्यावरण की समस्या उत्पन्न हो रही है।”

उन्होंने कहा कि “श्रमण संस्कृति श्रम पर आधारित थी। अर्थात् कर्म करने से ही हम आगे बढ़ सकते हैं। आचार्यश्री विद्यानंद जी मुनिराज उसी परंपरा की देन है। इनके आशीर्वाद से हम संबल प्राप्त कर सकते हैं।”

साहू रमेशचंद्र जैन ने कहा कि “जैन-संस्कृति अतिप्राचीन है। यह समय-समय पर आक्रमणकारियों के प्रभाव से अभिभूत अवश्य हुई और यही कारण है कि अनेक जगह जैन मूर्तियाँ प्राप्त हो रही है। ऐसे समय में आचार्य समन्तभद्र, आचार्य कुन्दकुन्द की परंपरा को बीसवीं सदी तक निर्वाह करने वाले आचार्य शांतिसागर जी तथा आचार्य विद्यानंद जी हैं।”

आचार्यश्री विद्यानंद जी मुनिराज ने अपने आशीर्वचन में कहा कि “आज के संकट-काल में सभी को तन-मन-धन से देश की रक्षार्थ सहयोग करना चाहिए।” उन्होंने 2200 वर्ष पूर्व हुए प्रतापी जैन सम्राट् खारवेल का उल्लेख करते हुए कहा कि “यूनान ने जब देश पर हमला किया। तो खारवेल ने उसे भारत से बाहर खदेड़ कर देश की रक्षा की।” उन्होंने कहा कि “जैन समाज का अल्पसंख्यक होते हुए भी देश के हर क्षेत्र में भारी योगदान है।” आचार्यश्री ने इस भ्रम को दूर किया कि यदि जैन समाज को अल्पसंख्यक दर्जा मिल जाता है, तो वह हिंदू समाज से किसी तरह से अलग हो जाएगा। उन्होंने स्पष्ट किया कि आज सिखों व बौद्धों को अल्पसंख्यक दर्जा प्राप्त है, किंतु वे हिंदू समाज से अलग नहीं है। इसी प्रकार जैनों को भी अपनी शिक्षा-संस्थाओं व धर्मायतनों की सुरक्षा की दृष्टि से संविधान में प्रदत्त अधिकार मिलना चाहिए।

समयसार वाचना सफलतापूर्वक सम्पन्न

आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज की प्रेरणा से अधिक 'भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्' के तत्त्वावधान एवं श्री दि० जैन कुन्दकुन्द परमागम ट्रस्ट एवं पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर के सहयोग से इन्दौर में दिनांक 21.5.99 से 24.5.99 तक चार दिवसीय 'समयसार वाचना' विशाल जनसमूह की बीच सफलतापूर्वक सम्पन्न हुई। वाचना में भारत के विभिन्न स्थानों से पधारे चौबीस विद्वान् महानुभावों ने भाग लिया और सैकड़ों अध्यात्म 'रुचिवान् महानुभावों' ने समयसार के मर्म को समझा/सराहा। वाचना में आध्यात्मिक जगत के शिरोमणि तत्त्वमर्मज्ञ डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल जयपुर, का चारों दिन मार्गदर्शन और सान्निध्य रहा। वाचना का संयोजन विद्वत्परिषद के संयुक्त मंत्री डॉ० राजेन्द्र कुमार बंसल ने किया।

वाचना का प्रथम सत्र पं० नाथूलाल जी संहितासूरी इन्दौर की अध्यक्षता में, द्वितीय सत्र वयोवृद्ध पं० श्री नाथूराम जी डोंगरीय की अध्यक्षता में, तृतीय सत्र व्रती विद्वान् ब्रह्मचारी पं० रतनलाल जी शास्त्री इन्दौर की अध्यक्षता में, दिनांक 24.5.99 को वाचना का अंतिम सत्र पं० रतन चन्द जी भारिल्ल जयपुर की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ।

समयसार वाचना में जैनदर्शन के विविध पक्षों से सम्बन्धित विद्वानों एवं श्रोताओं ने रुचिपूर्वक भाग लेकर वाचना के उद्देश्य को सफल बनाया। इसकी सभी महानुभावों ने सराहना करते हुए उसे निरंतरित रखने की प्रेरणा दी।

आचार्यश्री विद्यानन्द जी का चातुर्मास ग्रीनपार्क, नई दिल्ली में

परमपूज्य प्रातःस्मरणीय सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज का 53वाँ पावन वर्षायोग (चातुर्मास) राजधानी नई दिल्ली के ग्रीन पार्क क्षेत्र में स्थित 'श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मंदिर जी' में अपूर्व धर्मप्रभावना के साथ हो रहा है। पूज्य आचार्यश्री का ग्रीनपार्क में मंगल-प्रवेश दिनांक 25 जुलाई को प्रातःकाल हुआ तथा 25 जुलाई को उनका 36वाँ मुनिदीक्षा-दिवस अत्यन्त भक्तिभाव से उल्लासपूर्वक मनाया गया। तथा दिनांक 27 जुलाई को सायंकाल शुभमुहूर्त में अपार जनसमूह की उपस्थिति में विधिविधानपूर्वक आचार्यश्री ने वर्षायोग की स्थापना की।

विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि पूज्य आचार्यश्री 'अज्ञयणमेव ज्ञाणं' को आदर्श के रूप में रखकर प्रतिदिन दो बार मंगलप्रवचन दे रहे हैं। प्रातःकाल उनका 8.30 बजे से 9.30 बजे तक 'रयणसार' ग्रंथ पर मंगलप्रवचन होता है, तो सायंकाल 4.30 बजे से 5.30 बजे तक 'नियमसार' ग्रंथ पर आध्यात्मिक प्रवचन होता है। दोनों समय अपार जनसमूह मंत्रमुग्ध होकर पूज्य आचार्यश्री के सारगर्भित उपदेशों को सुनता है। विशेषतः आचार्यप्रवर कुन्दकुन्द द्वारा रचित इन दोनों ग्रन्थों के हार्द को एक निर्ग्रंथ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी वरिष्ठ आचार्य के श्रीमुख से सुनकर निर्ग्रंथ संतों की अपूर्व ज्ञानगरिमा एवं गाम्भीर्य से समाज

परिचित हो रही है।

स्थानीय समाज का कहना है कि किसी भी मुनिराज के ऐसे नियमित एवं अत्यन्त सरलभाषा शैली में होते हुए भी इतने सूक्ष्मतत्त्वज्ञान से ओतप्रोत प्रवचन हमने आज तक नहीं सुने हैं। पूज्य आचार्यश्री के प्रवचनों के कारण समाज में अपूर्व धर्मप्रभावना हो रही है।

—मुनीश्वर प्रसाद जैन * * *

संस्कृत विद्यापीठ में 'प्राकृतभाषा विभाग' का शुभारम्भ

श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय), नई दिल्ली-16 में सत्र 1998-99 से प्राकृतभाषा के स्वतंत्र विभाग का शुभारम्भ केन्द्र सरकार की अनुमति से विधि सम्मत तरीके से हुआ है। इसकी स्थापना के पूर्व विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की नियमावली के अनुसार प्रयोग के तौर पर प्राकृतभाषा के अंशकालीन पाठ्यक्रम (प्रमाणपत्रीय एवं डिप्लोमा पाठ्यक्रम) तीन वर्ष पूर्व सत्र 1996-97 से प्रारंभ किये गये थे। दो वर्षों में उनकी सक्रियता, पाठ्यपुस्तकों के निर्माण, जनरुचि एवं सफल संचालन को दृष्टिगत रखते हुए पूरी रिपोर्ट के आधार पर विश्वविद्यालय अनुदान आयोग एवं केन्द्र सरकार ने इस विभाग की स्थापना की स्वीकृति प्रदान की एवं अपेक्षित संसाधन भी विद्यापीठ को प्रदान किये। उन्हीं के द्वारा इस विद्यापीठ में प्राकृतभाषा के एक उपाचार्य (रीडर) एवं एक व्याख्याता (लेक्चरर) के पद प्रारम्भिक रूप में निर्मित हुए। इन पर विधिवत् नियुक्तियाँ भी हो चुकी हैं एवं नियुक्त विद्वानों ने अपना पदभार ग्रहण कर लिया है। इनकी नियुक्तियों के पूर्व डॉ० देवेन्द्र जी शास्त्री नीमच, प्रो० राजाराम जी जैन, आरा एवं डॉ० उदयचंद्र जी जैन उदयपुर वालों का 'अतिथि आचार्य' (गिस्ट फैकल्टी) के रूप में महत्त्वपूर्ण योगदान शैक्षणिक-कार्य में रहा है।

प्राकृतभाषा विभाग में 'उपाचार्य' (रीडर) पद पर डॉ० सुदीप जैन की नियुक्ति हुई है तथा 'व्याख्याता' (लेक्चरर) पद पर डॉ० (पं०) जयकुमार उपाध्ये की नियुक्ति हुई है।

इस शुभकार्य के लिए 'प्राकृतविद्या' परिवार केन्द्र सरकार एवं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सम्बद्ध महानुभावों, विद्यापीठ के कुलाधिपति श्री के०पी०ए० मेनॉन जी, संस्थापक कुलपति डॉ० मण्डन मिश्र जी एवं वर्तमान कुलपति प्रो० वाचस्पति उपाध्याय जी का हृदय से आभार मानता है कि प्राकृतविद्या के क्षेत्र में इन सब महानुभावों का अविस्मरणीय योगदान रहा है। आशा है यह विभाग दिनोंदिन और अधिक उन्नति की ओर अग्रसर रहेगा।

—प्रकाशक * * *

प्राकृतभाषा पाठ्यक्रम के सत्र 1998-99 के परीक्षा-परिमाण

श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय), नई दिल्ली-110016 में तीन वर्षों से शानदार उपलब्धियों के साथ संचालित प्राकृतभाषा के प्रमाणपत्रीय एवं डिप्लोमा पाठ्यक्रमों के सत्र 1998-99 के परीक्षा-परिणाम निम्नानुसार हैं—

डिप्लोमा पाठ्यक्रम 1998-99

प्रथम स्थान	-	श्रीमती रंजना जैन	-	99.0%
द्वितीय स्थान	-	श्रीमती शारदा जैन	-	96.5%
तृतीय स्थान	-	श्री अनिरुद्ध जैन	-	93.5%

प्रमाणपत्रीय पाठ्यक्रम 1998-99

प्रथम स्थान	-	श्रीमती सरिता जैन	-	97.0%
द्वितीय स्थान	-	कु० साधना जैन	-	95.5%
तृतीय स्थान	-	कु० लीना जैन	-	93.5%

दोनों पाठ्यक्रमों में परीक्षा में सम्मिलित सभी छात्र-छात्रायें उत्तीर्ण हुये हैं, परीक्षा-परिणाम शत-प्रतिशत रहा है। 'डिप्लोमा पाठ्यक्रम' में सात विद्यार्थी प्रथम श्रेणी में (जिनमें से चार ने 75% से अधिक अंक प्राप्त किये हैं) एवं एक द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ है। जबकि 'प्रमाणपत्रीय पाठ्यक्रम' में बारह विद्यार्थी प्रथमश्रेणी में (जिनमें से नौ ने 75% से अधिक अंक प्राप्त किये हैं)। चार विद्यार्थी द्वितीय श्रेणी में एवं पाँच विद्यार्थी तृतीय श्रेणी में उत्तीर्ण हुये हैं।

—डॉ० सुदीप जैन, संयोजक * *

डॉ० जयकुमार उपाध्ये को पी-एच.डी. उपाधि प्राप्त

कुन्दकुन्द भारती में वास्तुविद्या एवं ज्योतिष के प्रभारी विद्वान् पं० जयकुमार एन० उपाध्ये को मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर के 'जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग' से वर्ष 1999 ई० में पी-एच.डी. की शोध-उपाधि प्राप्त हुई है। आपने प्रो० (डॉ०) प्रेमसुमन जी जैन के मार्ग-निर्देशन में अपना शोध-प्रबन्ध-निर्माण किया था। आपके शोध-प्रबन्ध का विषय 'प्राकृत साहित्य में वर्णित ज्योतिष का आलोचनात्मक परिशीलन' था।

आपको इस उपलब्धि पर प्राकृतविद्या-परिवार की ओर से हार्दिक बधाई।

—संपादक * *

“विद्वान् ही विद्वान् के परिश्रम को समझ सकता है”

संस्कृत विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति प्रोफेसर वी० वेंकटाचलम् ने कहा कि “एक विद्वान् ही दूसरे विद्वान् के परिश्रम को समझ सकता है। किसी विद्वान् के द्वारा अभिनन्दित होना बहुत बड़ा सम्मान है।”

उन्होंने ये उद्गार सोमवार को केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ में गत दिनों दिल्ली में आचार्य उमास्वामी पुरस्कार से सम्मानित, कातन्त्रसिन्धु की उपाधि से विभूषित संस्थान के उपाचार्य (डॉ०) जानकी प्रसाद द्विवेदी के अभिनन्दन-समारोह में मुख्य अतिथि पद से व्यक्त किये। उन्होंने कहा कि “डॉक्टर द्विवेदी ने बड़े परिश्रम से ग्रंथों का प्रणयन किया, जिसका समुचित मूल्यांकन दिल्लीस्थ श्री कुन्दकुन्द भारती न्यास-संस्था ने किया। उन्होंने कहा डॉक्टर द्विवेदी का सम्मान शास्त्रसेवा का सम्मान है।”

समारोह की अध्यक्षता करते हुए संस्थान के निदेशक प्रो० रिनपोछे ने (डॉ०) द्विवेदी

को नारिकेल फल से सम्मानित करते हुए कहा “जो विद्वान् या अध्यापक अध्यापनमात्र से सन्तुष्ट रहते हैं, वे आदर्श अध्यापक नहीं हो सकते। जो लोग अध्यापन के साथ ही गहन अनुसंधान के द्वारा-ग्रन्थ रचना करते हैं, वे ही आदर्श कोटि के अध्यापक हो सकते हैं। डॉ० जानकी प्रसाद द्विवेदी जी ने अध्यापन के साथ ही अनेक महत्त्वपूर्ण शोधपरक ग्रंथों की रचना की है। आप संस्कृत व्याकरण के विशिष्ट विद्वान् हैं। आपको जो पुरस्कार मिला है वह हम सभी के लिए आनन्द एवं गौरव का विषय है। (डॉ०) द्विवेदी को साधुवाद देते हुए उन्होंने उनके शतायु जीवन की कामना की।”

अपने अभिनन्दन के उत्तर में (डॉ०) जानकी प्रसाद द्विवेदी ने कहा — मैंने 115 शोधलेखों तथा 11 ग्रंथों की रचना की है। मैं इसी तरह शास्त्र-सेवा में लगा रहूँगा। संस्थानीय छात्रों को हर सम्भव सहयोग देता रहूँगा। (डॉ०) द्विवेदी ने अपने इस अभिनन्दन के प्रति संस्थान के निदेशक प्रो० रिनपोछे तथा अन्य सभी विद्वानों के प्रति आभार व्यक्त किया।

संस्थान के छात्रसंघ के अध्यक्ष भिक्षु छोगल तेन्जिन ने विशिष्ट विद्वानों को मालत्पार्षण किया। संस्थान की छात्राओं ने संस्कृतभाषा में अभिनन्दन-गीत प्रस्तुत किया। संस्थान की सहायक कुलसचिव (डॉ०) अनुपमा कौशिक ने कौशेय वस्त्र प्रदान करके (डॉ०) द्विवेदी को सम्मानित किया। संस्कृत भाषा में अभिनन्दन पत्र का पाठ (डॉ०) धर्मदत्त चतुर्वेदी ने किया। संस्थान के संस्कृत विभाग के उपाचार्य (डॉ०) रामरक्षा त्रिपाठी ने स्वागत भाषण किया। अनुवाद विभाग के सम्पादक भिक्षु एल०एन० शास्त्री तथा तिब्बती भाषा के प्राध्यापक भिक्षु पेमा ग्यलछन् ने (डॉ०) द्विवेदी के कार्यों के प्रति निष्ठा व्यक्त करते हुए उनका स्वागत किया। अन्त में धन्यवाद ज्ञापन पण्डित जनार्दन पाण्डेय जी ने किया। इस कार्यक्रम का संस्कृत भाषा में संचालन (डा०) धर्मदत्त चतुर्वेदी ने किया। इस समारोह में संस्थान के विद्वान् प्रो० कामेश्वर नाथ मिश्र, प्रो० रामशंकर त्रिपाठी तथा संस्कृत विश्वविद्यालय से प्रो० लक्ष्मी नारायण तिवारी, प्रो० ब्रह्मदेव नारायण शर्मा, (डॉ०) रमेश कुमार द्विवेदी तथा (डॉ०) हरप्रसाद दीक्षित ने उपस्थित होकर इसे सफल बनाया। *★*

उत्तरप्रदेशीयकर्णपुरजनपदान्तर्गतकमालपुरग्रामप्रसूतानां पाणिनीयकातन्त्रचान्द्रादिशब्द-विद्योपासकानां कातन्त्रञ्चाधिकृत्य ‘वाचस्पति’ (डी० लिट्०) इति लब्धशोधोपाधीनां धर्मसदाचारपरायणानां संस्थानस्यास्य संस्कृतविभागे उपाचार्यपदं सुशोभयतां सम्माननीयानां डॉ० जानकीप्रसाद-द्विवेदमहाभागानां संस्कृतवाङ्मयस्य विशिष्टसेवायै दिल्लीस्थश्रीकुन्दकुन्दभारतीन्यासस्य ‘आचार्य उमास्वामि’ संस्कृतभाषासाहित्यपुरस्कारेण सम्मानितानाम् अथ च कातन्त्रशास्त्रीय-गभीरवैदुष्याश्रितेन ‘कातन्त्रसिन्धु’ इति विशिष्टसम्मानोपाधिना विभूषितानां तेषां सामोदं स्वागताभिनन्दनं विदधत् केन्द्रीय-उच्चतिब्बती-शिक्षासंस्थानमिदं तेष्यः समर्पयतीदम्—

अभिनन्दनपत्रम्

सदैव ये वैदिकमार्गागामिनो मनस्विनः शीलविभूषिता इमे ।

गवेषकास्ते प्रथिताश्च जानकीप्रसादवर्याः कुशलाः समीक्षकाः ॥ 1 ॥

आलोडितं व्याकरणादिशास्त्रं द्विवेदवयैरिह संस्कृतज्ञैः ।
 ग्रन्थस्तदीयश्च पुरस्कृतोऽभूत् कातन्त्रशाब्दीयविमर्शनामा ॥ 2 ॥
 शताधिकाः शोधपरा निबन्धा दशाधिका यैः कृतयः प्रणीताः ।
 भोटीयवैयाकरणेतिवृत्तं प्राकाशि तेषामिह संस्थया च ॥ 3 ॥
 कातन्त्रसूत्राणि समीक्षमाणाः शास्त्रेषु धीराः परमप्रवीणाः ।
 मेधाविनोऽध्यापनकर्मसक्ता विशुद्धवृत्ता गुणिनो द्विवेदाः ॥ 4 ॥
 ये राजधान्यां सुधियो द्विवेदाः कातन्त्रसिन्धुप्रमुखं विशिष्टम् ।
 सम्मानमेनं समवाप्य मान्याः संस्थानकीर्तिं समवर्धयैस्ते ॥ 5 ॥
 जैनैर् उमास्वामिविशिष्टनाम्ना सम्माननार्थं सुधियो वृता ये ।
 तानेव संस्थानकुलस्य मान्यान् सम्मानयामोऽद्य वयं द्विवेदान् ॥ 6 ॥

शुभेच्छवः

निदेशककुलसचिवोपकुलसचिवा अध्यापकाश्रयाः कर्मचारिणश्च
 केन्द्रीय-उच्चतिब्बतीशिक्षासंस्थानम्, सारनाथ-वाराणसी दिनांक 26.4.99 ❖❖

अभिनन्दनगीतम्

वयं श्रद्धासुमाञ्जलिभिः सतामभिनन्दनं कुर्मः ।
 सदा ये पाठयन्त्यस्मान् सरसया भाषया शास्त्रम् ।
 विराजन्ते सभामध्ये गुरूणां वन्दनं कुर्मः ॥ 1 ॥ वयं श्रद्धा...
 सदा शास्त्रानुसन्धाने रमन्ते ये सुधीमन्तः ।
 वयं कातन्त्रसिन्धुनाम् अमीषां स्वागतं कुर्मः ॥ 2 ॥ वयं श्रद्धा...
 यदीयं शास्त्रवैदुष्यं प्रशस्तं साम्प्रतं लोके
 वयं शुद्धाशयैश्छात्रास्तदीयं स्वागतं कुर्मः ॥ 3 ॥ वयं श्रद्धा...
 उमास्वामीतिसम्मानाद् बुधा ये भूषिता वन्द्यैः ।
 द्विवेदाः शाब्दिकास्तेषां शतं सद्द्वन्दनं कुर्मः ॥ 4 ॥ वयं श्रद्धा...
 इदंसंस्थानसत्कीर्तिः समन्ताद् वर्धिता धीरैः ।
 वयं कल्याणमित्राणां तदर्थं वन्दनं कुर्मः ॥ 5 ॥ वयं श्रद्धा... ❖❖

दिगम्बर जैन महासमिति 'राष्ट्रीय पत्रकारिता पुरस्कारों' की घोषणा

दिगम्बर जैन पत्रकार बंधुओं द्वारा समाज-निर्माण में दिए जा रहे योगदान के प्रति सम्मान व्यक्त करने के भाव से दिगम्बर जैन महासमिति द्वारा मार्च '99 में राष्ट्रीय स्तर पर पत्रकारिता पुरस्कारों हेतु प्रविष्टियाँ आमंत्रित की गई थीं। हमें यह घोषित करते हुए प्रसन्नता है कि निम्नांकित 5 वर्गों में कुल 37 प्रविष्टियाँ प्राप्त हुईं जिनका मूल्यांकन त्रिसदस्यीय निर्णायक मण्डल द्वारा किया गया—

1. प्रा० नरेन्द्र प्रकाश जैन, फिरोजाबाद;
2. (डॉ०) हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर;
- 3.

(डॉ०) वृषभप्रसाद जैन, लखनऊ।

निर्णायक-मण्डल की अनुशंसाओं के आधार पर राष्ट्रीय अध्यक्ष श्री प्रदीप जैन कासलीवाल ने निम्नवत् पुरस्कारों की घोषणा की है। समस्त पुरस्कृत संपादकों को निकट भविष्य में इन्दौर में आयोजित होने वाले 'राष्ट्रीय दिगम्बर जैन सम्पादक/पत्रकार सम्मेलन' में रु० 5,000/- की नगद राशि तथा प्रशस्ति-पत्र से सम्मानित किया जायेगा।

वर्ग-1 : हिन्दी साप्ताहिक, पाक्षिक समाचार पत्रों के सम्पादक।

श्री शैलेश कापड़िया, सम्पादक—जैनमित्र।

वर्ग-2 : हिन्दी मासिक पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक।

डॉ० चिरंजीलाल बगड़ा, सम्पादक—दिशाबोध।

वर्ग-3 : उपाजातीय संगठनों की पत्रिकाओं के सम्पादक।

श्री जगदीश प्रसाद जैन, प्रधान सम्पादक—जैसवाल जैन दर्पण।

वर्ग-4 : हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भाषाओं के पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक।

ब्र० माणिकचन्द जयवंत सा भिसीकर, सम्पादक—सन्मति (मराठी)।

वर्ग-5 : शोध-पत्रिकाओं के सम्पादक।

डॉ० सुदीप जैन, सम्पादक—प्राकृतविद्या।

समस्त पुरस्कृत विद्वानों को महासमिति परिवार की ओर से हार्दिक बधाई।

—(डॉ०) अनुपम जैन, राष्ट्रीय प्रचार मंत्री * * *

श्रुतपंचमी पर्व तथा श्री जैन सिद्धांत भवन, आरा का 96वाँ वार्षिकोत्सव सम्पन्न

दिनांक 18 जून, 1999, श्रुतपंचमी पर्व तथा श्री जैन सिद्धांत भवन का 96वाँ वार्षिकोत्सव श्रुतस्कन्ध यंत्र, महान् ग्रंथ 'षट्खण्डागम' की पूजा-अर्चना तथा भवन के वार्षिक प्रतिवेदन आदि के साथ सोल्लास सम्पन्न हुआ। इस शुभ अवसर पर प्रसिद्ध दानवीर बाबू हरप्रसाद दास जी जैन की पौत्री तथा श्रद्धेया तपस्विनी श्रीमती द्रौपदी देवी जी, भवन के संरक्षक श्रीमान् सुबोध कुमार जी जैन, डॉ० गोकुल चन्द जी जैन तथा समाज के अन्य गणमान्य व्यक्ति उपस्थित थे।

ज्ञातव्य है कि श्री जैन सिद्धांत भवन, आरा की स्थापना सन् 1903 ई० में आज ही यानि श्रुतपंचमी पर्व के दिन राजर्षि देवकुमार जी जैन ने भट्टारक श्री हर्षकीर्ति जी महाराज की प्रेरणा से की थी। इस ग्रंथागार में प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, कन्नड़, बंगला तथा अन्य विभिन्न भाषाओं में जैनग्रंथ ही नहीं अपितु जैनेतर धर्मों को मिलाकर लगभग 5000 हस्तलिखित ग्रंथ, 1700 ताड़पत्रीय ग्रंथ, तथा 14000 छपे हुए ग्रंथ संग्रहित हैं। इसके अतिरिक्त लगभग 5000 अंग्रेजी में छपे हुए अतिदुर्लभ तथा बहुमूल्य ग्रंथों का भी संग्रह है। ऑडियो-विडियो कैसेट लाइब्रेरी के अन्तर्गत जैन तीर्थस्थलों, मुनि महाराज-संतों के प्रवचन, भजन आदि के कैसेट उपलब्ध है। 'श्री जैन सिद्धांत भास्कर' तथा अंग्रेजी में 'जैन एन्टीक्वेरी' नामक वार्षिक शोध-पत्रिकाओं का प्रकाशन सन् 1912 से निरंतर

सुव्यवस्थित ढंग से होता आ रहा है। इन दोनों पत्रिकाओं में जैन पुरातत्व, इतिहास, कला से संबंधित अनेकों महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित होते चले आ रहे हैं।

श्री जैन सिद्धांत भवन के अन्तर्गत स्थापित श्री देव कुमार जैन प्राच्य शोध संस्थान, जिसे कि मगध विश्वविद्यालय द्वारा मान्यता प्राप्त है, शोधार्थियों को अपनी सेवा प्रदान कर रहा है। शोधकर्ता की सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए बहुमूल्य प्राचीन ग्रंथों की जीरॉक्स कॉपी करवाकर देने की व्यवस्था भी भवन में है।

इस अवसर पर श्री जैन सिद्धांत के संरक्षक श्री सुबोध कुमार जी जैन ने भवन की विभिन्न सेवाओं तथा उपयोगिताओं पर प्रकाश डाला। मानद मंत्री श्री अजय कुमार जी जैन ने श्रुतपंचमी पर्व के इतिहास से लोगों को अवगत कराया।

—जिनेश कुमार जैन, आरा ***

श्रावक शिरोमणि – श्री चक्रेश जैन

21 अप्रैल, 1999 को राष्ट्रसन्त आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज के 'अमृत-महोत्सव' के प्रसंग से युवा, कर्मठ एवं जैनसमाज के अग्रणी नेता स्वनामधन्य श्री चक्रेश जैन को 'श्रावक शिरोमणि' की मानद उपाधि से अलंकृत किया गया।

जैन एवं जैनेतर समाज में लब्धप्रतिष्ठ कर्मठ, सामाजिक उदारचेता श्री चक्रेश जैन का जन्म 50 वर्ष पूर्व धर्मनिष्ठ सभ्रान्त परिवार में हुआ था। आपके पिता श्री लाला रतनलाल जी बिजलीवाले समाज के प्रतिष्ठित एवं उदात्त गुणों से सम्पन्न कर्मठ समाजसेवी के रूप में स्थापित थे। दिल्ली में 20वीं शताब्दी में सर्वप्रथम व्यक्तिगत स्तर पर बालाश्रम स्थित मुनिसुव्रतनाथ दिगम्बर जैन मंदिर दरियागंज की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा सम्पन्न कराने का श्रेय उन्हीं को है। बाल्यावस्था से ही श्री जैन ने उच्चकुलीन परम्परागत गुणों को आत्मसात् करते हुए निर्भीक-ईमानदार, समर्पित एवं कर्मठ व्यक्तित्व का विकास किया है।

विलक्षण संगठन शक्ति एवं नेतृत्व क्षमता के कारण 20 वर्ष की अवस्था से ही अनेक महत्त्वपूर्ण धार्मिक एवं सामाजिक गतिविधियों को गतिशील बनाने का गुहृतर दायित्व का निर्वाह आज भी उसी समर्पणभाव से कर रहे हैं, जिस भाव से प्रसंग में सर्वप्रथम विश्व प्रसिद्ध पक्षी अस्पताल श्री दिगम्बर जैन लाल मंदिर, चांदनी चौक का दायित्व ग्रहण किया गया था। श्री जैन का सेवाव्रत का भाव आज भी जीवन्त है।

आज सारा जैन जगत् कर्मठ समाजसेवी-धर्मनिष्ठ चक्रेश जैन को 'श्रावक शिरोमणि' की गौरवपूर्ण उपलब्धि पर हर्षित है। दिगम्बर जैन समाज एवं सोसायटी दरियागंज की ओर से हार्दिक अभिनन्दन। ***

अपभ्रंश साहित्य अकादमी द्वारा 'पत्राचार अपभ्रंश सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम'

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा संचालित अपभ्रंश साहित्य अकादमी द्वारा 'पत्राचार अपभ्रंश सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम' का आठवाँ सत्र 1 जनवरी, 2000 से आरम्भ किया जा रहा है।

‘पत्राचार जैनधर्म एवं संस्कृति सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम’ सत्र 2000 में प्रवेश भारत-स्थित उन अध्ययनार्थियों के लिए होगा, जिन्होंने किसी भी विश्वविद्यालय से स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण की हो। इसकी माध्यम भाषा हिन्दी होगी। पाठ्यक्रम का सत्र 1 जनवरी, 2000 से 31 दिसम्बर, 2000 तक रहेगा। निर्धारित आवेदनसत्र जयपुर कार्यालय से मंगवाकर 30.9.99 तक भेजे।

—डॉ० कमचन्द सोगाणी ❀❀

श्री गोम्मटेश्वर विद्यापीठ प्रशस्ति पुरस्कार 1999

प्राचीन वाङ्मय एवं जैन विद्याओं के मूर्धन्य विद्वान्, सागर (मध्यप्रदेश) के अनुपम रत्न डॉ० पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य को उनकी अद्वितीय साहित्य साधना एवं आगम विवेचना के लिए समर्पित कर सम्मानित किया गया। —डी० उपाध्ये, (म०प्र०) ❀❀

शान्ति एवं अहिंसक उपक्रम पर चतुर्थ अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन, नई दिल्ली में आगामी 10 से 14 नवम्बर, 1999 को नई दिल्ली में आयोज्य शांति एवं अहिंसक उपक्रम पर चतुर्थ अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेने के लिए विश्व के 30 देशों के लगभग एक सौ विद्वानों ने अपनी सहमति/आवेदन प्रेषित किए हैं। सम्मेलन की विषय वस्तु है : ‘अहिंसा, शान्ति-स्थापना, कलह का नियन्त्रण एवं प्रबन्धन’।

—महेन्द्र जैन अणुव्रत विश्व भारती ❀❀

विशिष्ट जैन प्रतिभा

सोलापुर (महाराष्ट्र) निवासी जैनसमाज के यशस्वी विद्वान् स्व० पं० वर्द्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री के पौत्र एवं श्री प्रभाचंद शास्त्री के पुत्र श्री महावीर प्रभाचंद शास्त्री ने श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ (मानित विश्वविद्यालय) नई दिल्ली-110016 के सत्र 1998-99 में ‘सिद्धान्तज्योतिष’ विषय से त्रिवर्षीय ‘शास्त्री’ परीक्षा 82.22% अंकों से उत्तीर्ण कर सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया है। इस उल्लेखनीय उपलब्धि पर आपको हार्दिक बधाई

—सम्पादक ❀❀

पद्मश्री बाबूलाल जैन पाटोदी को साहू अशोक जैन स्मृति पुरस्कार

पूज्य आचार्यश्री विद्यानंद जी मुनिराज के सान्निध्य में यहाँ लालकिला के सामने सुभाष मैदान के ‘कुन्दकुन्द सभा मण्डप’ में आयोजित एक भव्य समारोह में पद्मश्री बाबूलाल जैन पाटोदी को देश, धर्म और समाज की उत्कृष्ट सेवा के लिए प्रथम ‘साहू अशोक जैन स्मृति पुरस्कार’ प्रदान किया गया तथा ‘श्रावक शिरोमणि’ की उपाधि से सम्मानित किया गया। यह पुरस्कार बड़ौत (उ०प्र०) की समाज ने स्वनामधन्य स्व० साहू अशोक जैन जी की पुण्यस्मृति में प्रवर्तित किया है। पुरस्कार में श्री पाटोदी को एक लाख रुपए, शाल व प्रशस्ति पत्र दिए गए। पूर्व लोकसभा अध्यक्ष एवं राजस्थान के पूर्व राज्यपाल बलिराम भगत समारोह के मुख्य अतिथि थे।

आचार्यश्री ने अपने आशीर्वाचन में कहा कि “सम्मान व पुरस्कार व्यक्ति की समर्पण

भावना एवं लगन के प्रति दिये जाते हैं। पाटोदी जी ने ख्याति की इच्छा के बिना समाज के लिए निःस्वार्थ भाव से कार्य किया है। उसी के परिणामस्वरूप उन्हें यह सम्मान दिया गया है।" उन्होंने स्वर्गीय साहू अशोक जैन द्वारा किए गए कार्यों की चर्चा करते हुए कहा कि "साहू परिवार की तीन पीढ़ियों ने जैन समाज के उत्थान के लिए जो कार्य किए, वे अनुकरणीय हैं। साहू अशोक जैन ने समाज को एक नई दिशा दी। उनकी रिकतता को भरना असंभव है।" आचार्यश्री ने कहा कि अशोक जी को ये संस्कार अपनी माता रमाजी से मिले थे और रमा जी को ये संस्कार गांधी जी के संपर्क में रहने पर मिले। अशोक जी की स्मृति में यह पुरस्कार स्थापित कर बड़ीत जैन समाज ने एक सराहनीय कार्य किया है।" उन्होंने कहा कि हमारा देश संप्रदाय निरपेक्ष व पंथ निरपेक्ष तो हो सकता है, लेकिन धर्मनिरपेक्ष कहना गलत है।

श्री बलिराम भगत जी ने इस अवसर पर कहा कि "जैनधर्म विश्वधर्म है, मानवधर्म है। इसमें समस्त प्राणियों के कल्याण की कामना की गई है।" उन्होंने कहा कि "यदि जैन सिद्धांतों को आचरण में उतार लिया जाए तो यह देश सुधर सकता है। आजकल जैन समाज का जो पर्व महान पर्व चल रहा है, वह दशलक्षण पर्व आत्मशुद्धि की बहुत आवश्यकता है।" उन्होंने कहा कि "पहले राजनीति का अर्थ राष्ट्रसेवा होता था, लेकिन आज राजनीति अपने मूल उद्देश्य से भटक गई है। अब उसका अर्थ राष्ट्र सेवा न होकर स्वयं की सेवा बन गया है। यह गौरव की बात है कि यह पुरस्कार स्वतंत्रता सेनानी श्री पाटोदी को दिया जा रहा है।"

साहू अशोक जैन को याद करते हुए श्री भगत ने कहा कि "साहू-परिवार ने बिहार के विकास में अविस्मरणीय योगदान दिया है। बिहार के आर्थिक विकास में साहू परिवार का तीसरा स्थान आता है।" समाजसेवी उम्मेदमल जैन पांड्या ने कहा कि "पाटोदी जी ने समाज, व्यापार, राजनीति आदि सभी कार्यों में कभी भी नैतिक मूल्यों को नहीं छोड़ा।" समाजसेविका विदुषी श्रीमती सरयू दफ्तरी मुंबई ने कहा कि पाटोदी जी ने इन्दौर के निकट गोम्मटगिरि तीर्थ स्थापित कर महान कार्य किया। उन्होंने जो भी कार्य हाथ में लिया पूर्ण करके छोड़ा।" विशिष्ट अतिथि न्यायमूर्ति विजेंद्र जैन ने इस पुरस्कार स्थापना की सराहना करते हुए कहा कि "आचार्यश्री की प्रेरणा से ऐसे ही अनेक महान कार्य संपन्न हुए हैं। आचार्यश्री ने उत्कृष्ट सेवा को सदा प्रोत्साहित किया है।" डॉ० मंडन मिश्र ने कहा कि "साहू-परिवार ने धर्म, संस्कृति, उद्योग द्वारा राष्ट्र की उन्नति में महान योगदान दिया। साहित्य के क्षेत्र में भारतीय ज्ञानपीठ की स्थापना कर भारतीय भाषाओं को सर्वोच्च सम्मान दिया। संस्कृत के विकास में भी उनके योगदान को भुलाया नहीं जा सकता।" श्री पाटोदी को पं० जयकुमार जैन ने तिलक, चक्रेश जैन ने माल्यार्पण किया। साहू रमेश चन्द्र जी ने प्रशस्ति-पत्र का वाचन किया। समारोह के संचालक डॉ० सुदीप जैन ने पाटोदी जी का परिचय देते हुए बताया कि "श्री पाटोदी 25 वर्ष की उम्र में ही इन्दौर के मेयर बने एवं 12 वर्ष विधायक रहे। आचार्यश्री की प्रेरणा से समाजसेवा में आए। बावनगजा सहित कई तीर्थों

का जीर्णोद्धार कराया, अनेक समाजसेवी, धार्मिक व शिक्षण संस्थायें तथा अस्पताल स्थापित किए।”

श्री पाटोदी ने पुरस्कार के प्रति आभार व्यक्त करते हुए कहा कि “आचार्यश्री ने जैनधर्म को जन-जन का धर्म बनाकर महान कार्य किया है। उनके सानिध्य में राष्ट्रीय स्तर के सभी कार्य सफल हुए हैं।” साहू अशोक जी को अब तक का सर्वाधिक समर्पित व्यक्तित्व बताते हुए उन्होंने कहा कि “तीर्थराज श्री सम्मेशिखर जी पर उनके नेतृत्व में समाज को जो सफलता मिली वह स्वर्णाक्षरों में लिखी जाएगी।” पाटोदी जी ने पुरस्कार में मिली एक लाख रूपए की राशि समाजसेवा में समर्पित करने की घोषणा की।

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी के अध्यक्ष साहू रमेशचंद्र जैन ने लोगों को समाजसेवा की प्रेरणा देने के लिए स्थापित इस पुरस्कार की सराहना की। उन्होंने साहू अशोक जी को अद्भुत प्रेरणास्रोत बताते हुए समस्त समाज से तीर्थों के संरक्षण एवं संवर्द्धन हेतु दान की अपील की।

पुरस्कार समिति के अध्यक्ष सुखमाल चंद जैन (बड़ौत) व अन्य पदाधिकारियों ने श्री पाटोदी को माल्यार्पण किया। समारोह का आयोजन प्राचीन अग्रवाल दिगंबर जैन पंचायत ने ‘दशलक्षण पर्व समारोह’ के अंतर्गत किया। समारोह में श्री पाटोदी जी को रजत-तुला भी भेंट की गयी।

—संपादक ***

विद्वत्समाज की अपूरणीय क्षति

जैनसमाज के ज्ञानवृद्ध एवं समाजसेवी मनीषी विद्वद्वर्य पं० श्यामसुन्दर लाल जी शास्त्री, फिरोजाबाद (उ०प्र०) वालों ने दिनांक 26 मई '99 को 85 वर्ष की आयु में धर्मध्यानपूर्वक यह नश्वर शरीर छोड़ दिया।

आप भारतवर्षीय दिगम्बर जैन (धर्मसंरक्षिणी) महासभा के मुखपत्र ‘जैनगजट’ के प्रधान सम्पादक रहे। आपने लगभग चालीस वर्षों तक पी०डी० जैन इण्टर कॉलेज फिरोजाबाद का प्रबंध-कार्य कुशलतापूर्वक निर्वाह किया। आपकी सुदीर्घ समाजसेवा एवं धर्मप्रभावना को दृष्टिगत रखते हुए पूज्य आचार्यश्री विद्यानन्द जी मुनिराज की सन्निधि में श्रीमहावीर जी क्षेत्र पर हुए सहस्राब्दी समारोह में ‘गाँधी नाथा रंगजी जनमंगल प्रतिष्ठान’, सोलापुर (महाराष्ट्र) द्वारा 1997 के ‘एक लक्षरूपये’ राशि के ‘आचार्य कुन्दकुन्द पुरस्कार’ से सम्मानित किया गया था।

ऐसे विद्यानुरागी, समाजसेवी मनीषी को सुगतिगमन एवं बोधिप्राप्ति की मंगलकामना के साथ ‘प्राकृतविद्या परिवार’ की ओर से सादर श्रद्धाञ्जलि समर्पित है। —संपादक ***

सुप्रसिद्ध जैन विद्वान् एवं कवि पं० कमल कुमार शास्त्री ‘कुमुद’, खुरई (म०प्र०) वालों का 15 अगस्त '99 को 95वें वर्ष की अवस्था में शांत परिणामपूर्वक देहावसान हो गया है।

‘प्राकृतविद्या परिवार’ की ओर से सुगतिगमन एवं बोधिलाभ की मंगलकामना के साथ श्रद्धासुमन समर्पित हैं।

—संपादक ***

इस अंक के लेखक/लेखिकायें

1. विशम्भरनाथ पांडे—आप उड़ीसा प्रांत के महामहिम राज्यपाल रहे हैं। भारतीय मनीषा के आप सुविख्यात हस्ताक्षर रहे हैं। आपकी अनेकों रचनायें विश्वविश्रुत रहीं, विशेषतः आपके देहावसान के बाद प्रकाशित 'भारत और मानव संस्कृति' के दो भाग आज विद्वज्जगत् में चर्चित हैं।

इस अंक में प्रकाशित आलेख 'जैन-संस्कृति और तीर्थंकर परंपरा' आपकी पुस्तक से उद्धृत है।

2. डॉ० राजाराम जैन—आप मगध विश्वविद्यालय में प्राकृत, अपभ्रंश के प्रोफेसर पद से सेवानिवृत्त होकर श्री कुन्दकुन्द भारती जैन शोध संस्थान के निदेशक हैं। अनेकों महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों, पाठ्यपुस्तकों एवं शोध आलेखों के यशस्वी लेखक।

इस अंक के अन्तर्गत प्रकाशित 'तिसट्टि महापुराण-पुरिस-आयार-गुणालंकार' नामक शोध आलेख एवं कविता के लेखक आप हैं।

स्थायी पता—महाजन टोली नं० 2, आरा-802301 (बिहार)

3. डॉ० विद्यावती जैन—आप मगध विश्वविद्यालय की सेवानिवृत्त प्रोफेसर हैं तथा जैन-साहित्य एवं प्राकृतभाषा की अच्छी विदुषी हैं। आप प्रो० (डॉ०) राजाराम जैन की सहधर्मिणी हैं।

इस अंक में प्रकाशित 'अपभ्रंश के आद्य महाकवि स्वयंभू एवं उनके नारीपात्र' शीर्षक कविता आपका है।

स्थायी पता—महाजन टोली नं० 2, आरा-802301 (बिहार)

4. डॉ० राजमल जैन—जैन संस्कृति, इतिहास एवं पुरातत्त्व के क्षेत्र में आप एक जाने माने हस्ताक्षर हैं। आपके द्वारा लिखे गये अनेकों पुस्तकें एवं लेख प्रकाशित हैं। सेवानिवृत्ति के बाद भी निरन्तर अध्ययन एवं लेखन के साथ-साथ शोधपूर्ण कार्यों में निरत रहते हैं।

इस अंक में प्रकाशित 'प्राचीन भारत पुस्तक में जैनधर्म-संबंधी कतिपय विचारणीय तथ्य' शीर्षक का आलेख आपकी शोधपूर्ण लेखनी से प्रसूत है।

स्थायी पता—बी-1/324, जनकपुरी, नई दिल्ली-110058

5. प्राचार्य कुन्दनलाल जैन—दिल्ली के जैन शास्त्रागारों के सूचीकरण में आपका नाम विशेषतः उल्लेखनीय रहा है। आप अच्छे गवेषी लेखक हैं।

इस अंक में प्रकाशित 'अपभ्रंश की सरस सशक्त कृति : चूनडीरासक' आपकी लेखनी से प्रसूत है।

पता—68, श्रुतकुटी, युधिष्ठिर गली, विश्वास नगर, शाहदरा, दिल्ली-110032

6. डॉ० प्रेमचंद रांवका—आप हिन्दी-साहित्य के सुविज्ञ विद्वान् हैं।

इस अंक में प्रकाशित आलेख 'हमारी बद्रीनाथ-यात्रा' आपके द्वारा रचित है।

स्थायी पता—1910, खेजड़ों का रास्ता, जयपुर-302003 (राज०)

7. डॉ० रमेशचन्द्र जैन—आप 'जैन कालेज, बिजनौर (उ०प्र०)' में संस्कृत एवं जैनदर्शन के विभागाध्यक्ष हैं।

इस अंक में प्रकाशित 'जिनधर्मप्रभावक आचार्यश्री विद्यानन्द जी' शीषेक आलेख आपके द्वारा रचित है।

स्थायी पता—जैन मंदिर के पास, बिजनौर-246701 (उ०प्र०)

8. डॉ० अभय प्रकाश जैन—आप शासकीय सेवा में होते हुये भी बौद्धिक अध्यवसाय के कार्यों में अच्छी रुचि लेते हैं तथा जैनविद्या के विविध क्षेत्रों पर चिंतन एवं लेखन का कार्य करते रहते हैं।

इस अंक में प्रकाशित 'डॉ० लुडविग अल्सडोर्फ' शीषेक लेख आपके द्वारा लिखित है।

स्थायी पता—एन०-14, चेतकपुरी, ग्वालियर-474009 (म०प्र०)

9. डॉ० सुदीप जैन—श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली में प्राकृतभाषा विभाग में उपाचार्य (रीडर) एवं विभागाध्यक्ष होने के साथ-साथ प्राकृतभाषा पाठ्यक्रम के संयोजक भी हैं। अनेकों पुस्तकों के लेखक, सम्पादक। प्रस्तुत पत्रिका के 'मानद सम्पादक'।

इस अंक में प्रकाशित 'सम्पादकीय' के अतिरिक्त 'आदिब्रह्मा तीर्थंकर ऋषभदेव' नामक आलेख आपके द्वारा लिखित है।

स्थायी पता—बी-32, छत्तरपुर एक्सटेंशन, नंदा फार्म के पीछे, नई दिल्ली-110030

10. श्रीमती रंजना जैन—हिन्दी साहित्य, जैनदर्शन एवं प्राकृतभाषा की विदुषी लेखिका हैं। इस अंक में प्रकाशित आलेख 'अहिंसा : एक विष्वधर्म' शीषेक आलेख आपके द्वारा विरचित है।

स्थायी पता—बी-32, छत्तरपुर एक्सटेंशन, नंदा फार्म के पीछे, नई दिल्ली-110030



प्राकृतविद्या के स्वत्वाधिकारी एवं प्रकाशक श्री सुरेशचन्द्र जैन, मंत्री, श्री कुन्दकुन्द भारती, 18-बी, स्पेशल इन्स्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-110067 द्वारा प्रकाशित; एवं मुद्रक श्री महेन्द्र कुमार जैन द्वारा, पृथा ऑफसेट्स प्रा० लि०, नई दिल्ली-110028 पर मुद्रित।

भारत सरकार पंजीयन संख्या 48869/89

‘सर्वास्वेह हि शुद्धासु जातिषु द्विजसत्तमाः ।

शौरसेनीं समाश्रित्य भाषा काव्येषु योजयेत् ।।’ —(नाट्यशास्त्र)

अर्थ:—हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! सभी शुद्ध जातिवाले लोगों के लिए शौरसेनी प्राकृतभाषा का आश्रय लेकर ही काव्यों में भाषा का प्रयोग करना चाहिये ।

शौरसेनी प्राकृत

“शौरसेनी प्राकृतभाषा का क्षेत्र कृष्ण-सम्प्रदाय का क्षेत्र रहा है। इसी प्राकृतभाषा में प्राचीन आभीरों के गीतों की मधुर अभिव्यंजना हुई, जिनमें सर्वत्र कृष्ण कथापुरुष रहे हैं और यह परम्परा ब्रजभाषा-काव्यकाल तक अक्षुण्णरूप से प्रवाहित होती आ रही है।”

—डॉ० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित

(भरत और भारतीय नाट्यकला, पृष्ठ 75)

“भक्तिकालीन हिंदी काव्य की प्रमुख भाषा ‘ब्रजभाषा’ है। इसके अनेक कारण हैं। परम्परा से यहाँ की बोली शौरसेनी ‘मध्यदेश’ की काव्य-भाषा रही है। ब्रजभाषा आधुनिक आर्यभाषाकाल में उसी शौरसेनी का रूप थी। इसमें सूरदास जैसे महान् लोकप्रिय कवि ने रचना की और वह कृष्ण-भक्ति के केन्द्र ‘ब्रज’ की बोली थी, जिससे यह कृष्ण-भक्ति की भाषा बन गई।” —विश्वनाथ त्रिपाठी

(हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ० 18)

“मथुरा जैन आचार्यों की प्रवृत्तियों का प्रमुख केन्द्र रहा है, अतएव उनकी रचनाओं में शौरसेनी-प्रमुखता आना स्वाभाविक है। ष्वेतांबरीय आगमग्रन्थों की अर्धमागधी और दिगम्बरीय आगमग्रन्थों की शौरसेनी में यही बड़ा अन्तर कहा जा सकता है कि ‘अर्धमागधी’ में रचित आगमों में एकरूपता नहीं देखी जाती, जबकी ‘शौरसेनी’ में रचितभाषा की एकरूपता समग्रभाव से दृष्टिगोचर होती है।” —डॉ०जगदीशचंद्र जैन

(प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० 30-31)

“प्राकृत बोलियों में बोलचाल की भाषायें व्यवहार में लाई जाती हैं, उनमें सबसे प्रथम स्थान शौरसेनी का है। जैसा कि उसका नाम स्वयं बताता है, इस प्राकृत के मूल में शूरसेन के मूल में बोली जानेवाली भाषा है। इस शूरसेन की राजधानी मथुरा थी। —आर. पिशल (कम्पेरिटिव ग्रामर ऑफ प्राकृत लैंग्वेज, प्रवेश 30-31)

प्राकृतभाषा के प्रयोक्ता

“मथुरा के आस-पास का प्रदेश ‘शूरसेन’ नाम से प्रसिद्ध था और उस देश की भाषा ‘शौरसेनी’ कहलाती थी। उक्त उल्लेख से इस भाषा की प्राचीनता अरिष्टनेमि से भी पूर्ववर्ती काल तक पहुँचती है।” —(मधवा शताब्दी महोत्सव व्यवस्था समिति, सरदारशहर (राज०) द्वारा प्रकाशित ‘संस्कृत प्राकृत व्याकरण एवं कोश की परम्परा’ नामक पुस्तक से साभार उद्धृत)

With best compliments from :



S.C.J. Plastics Ltd.

**F-3/10&11, OKHLA INDUSTRIAL AREA PHASE-I, NEW DELHI-110020
HOUSE OF PLASTIC QUALITY PRODUCTS**

- ☞ MASTERBATCHES FOR LD, HD, HM, PP, PVC FOR MAJOR APPLICATIONS LIKE FILM, INJECTION & BELOW MOULDING, PP FIBERS, TELECOM CABLES & SHOES.**
- ☞ SPECIAL MASTERBATCHES FOR PS, HIPS, ABS & OTHER ENGG. PLASTICS.**
- ☞ PROPERTY MASTERBATCHES INCLUDING ANTIFIBRILATION & UV ABSORBANTS.**
- ☞ SPECIAL CABLE COMPOUNDS-FRLS & HALOGEN FREED FLAME RETARDENT ETC.**

☎ : 6815566, 6819400, 6818181 FAX : 91-011-6814455

With Best Compliments

from

Siddharth Interiors

INTERIOR DESIGNERS & FURNISHERS

25, Pansheel Park, Shopping Complex,
New Delhi - 110017.

Tel.: 6442075, 6460803

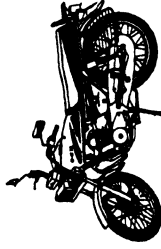
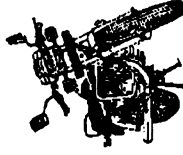
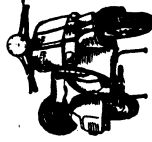
**HIGH CLASS INTERIORS
WITH DESIGN PACKAGE
FOR RESIDENCES, OFFICES,
FARM HOUSES, VILLAS ETC.**

FULL RANGE of BAJAJ

SCOOTERS & MOTORCYCLES

Ready Availability

- All Models • All Colours • Easy Finance Schemes



Contact Leading Authorised Bajaj Dealer :

GAUTAM AUTO

- **TILAK NAGAR** : 4A/4, Najafgarh Road, Ph : 5455310, 5193386
- **OKHLA PHASE-II** : E-41/6, Indl. Area, Ph : 6841156, 6913284
- **R.K. PURAM** : Ring Road, Ph : 4672197, 4673298
- **RANA PRATAP BAGH** : B-81, G.T. Karnal Road Indl. Area,
Ph : 7113408, 7218240 (Gautam Motors)
- **JAGAT PURI CHOWK** : 5-A, Radheyapuri Road, Ph : 2214131 (Gautam Motors)

GAUTAM MOTORS PVT. LTD.

Authorised Dealer of Maruti Udyog Limited



ESTEEM



MARUTI 800



ZEN

- Full range of vehicles
- Easy finance schemes
- Fully automated modern workshop

Contact at :

SHOWROOM :

E-46/14, Okhla Industrial Area, Phase-II,
New Delhi - 110 020

Tel : 6926460, 6927674, 6929081, 6841098

WORKSHOP :

B-225, Okhla Industrial Area, Phase-I,
New Delhi - 110 020

Tel : 6811497, 6811498, 6811499

भाव सनातन और सार्वभौमिक है—भावों को केवल विभिन्न भाषाओं में ही अभिव्यक्त किया जाता है और हमारे भाषाई वैविध्य में जो एक उल्लेखनीय तथ्य है वह है—अन्य भाषाओं से लाये गये शब्द और एक सहज तत्परता से इनका हमारी भाषाओं में घुल-मिल जाना, समाहित हो जाना। यदि किसी भी भाषा को कायम रहना है, फैलना है और फलना-फूलना है, तो व्यापक स्तर पर पारस्परिक व्यवहार, आदान-प्रदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है—अभी बहुत कुछ हासिल किया जाना है।



भाषा की एक सांझी आत्मा है, इसे
जीवन्त बनाये रखिये।

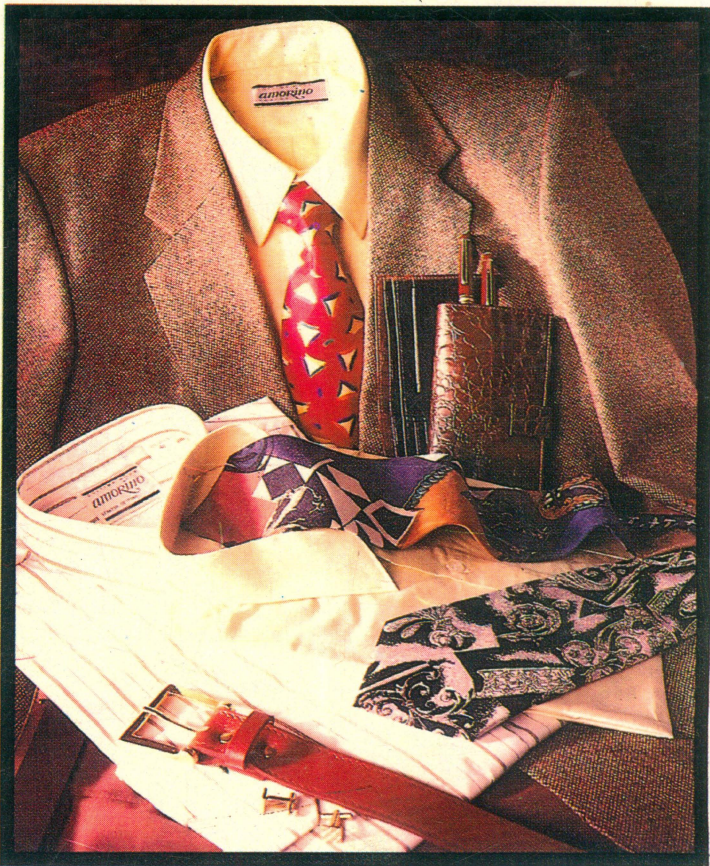


नवभारत टाइम्स प्रकाशन-समूह

की

शुभकामनाओं सहित





A treasure trove of shopping. A delight for the family with
a sweep of tantalizing Readymades, Gifts, Novelties,
Tempting Household Linen, Made-ups, Accessories
Handicrafts, Watches and Jewellery.



*amorino*TM

PERFECT SHOPPING